विशेषांक

₹ 20/-

छात्र विमर्श

छात्र चेतना और संकल्प का प्रतीक

www.vimarsh.org

ISSN 2456-0790

अप्रैल 2019

वादे और वास्तविकता के बीच झूलती शिक्षा व्यवस्था



शिक्षा व्यवस्था की समीक्षा

चुनावी परिदृश्य 2019

विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता एवं विकास

/chatrvimarsh

vimarsh.org

छात्र विमर्श
छात्र चेतना और संकल्प का प्रतीक
www.vimarsh.org

अप्रैल 2019 वर्ष : 7 अंक : 1
Total Pages: 52 (W-C)

संपादक
तय्यब अहमद

उप-संपादक
तल्हा मन्नान खान
वेब-एडिटर
अज़हर अन्सार

प्रबन्धक
अब्दुल जब्बार ज़ाहिर
8447622919
managerrmgp@sio&india-org

सहायक प्रबंधक
मुहम्मद सलीम अकरम
8867255364

संपादकीय/प्रबंधकीय कार्यालय
छात्र विमर्श हिन्दी पत्रिका
D-300, अबुल फ़ज़्ल एन्क्लेव, जामिया नगर
ओखला, नई दिल्ली - 110025
Tel - 011-26949817

सहयोग राशि
एक प्रति : 20/-

मुद्रक एवं प्रकाशक मुहम्मद रिज़वान द्वारा
D-300, अबुल फ़ज़ल एन्क्लेव, जामिया नगर
ओखला, नई दिल्ली - 110025 से प्रकाशित एवं
भारत आफसेट 2034/35, गली क़ासिम जान,
बल्लीमारान, दिल्ली -110006 से मुद्रित

संपादक : मो0 असदुल्लाह

लेखक के विचारों से संगठन अथवा संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है, आपके विचार और रचनाएं आमंत्रित हैं

कुछ तस्वीरें गूगल से साभार

इस अंक में

6 **शिक्षा नीति पर भारी सरकारी नीति** — अभय कुमार

मोदी सरकार के पांच सालों के दौरान सरकारी तंत्र और छात्र आमने-सामने खड़े रहे हैं। कुछ लोगों ने तो यहां तक कह दिया कि मोदी सरकार के ख़िलाफ़ वास्तविक अर्थों में छात्रों ही ने विपक्ष की भूमिका निभाई है

13 **देश का राजनैतिक परिदृश्य और मुस्लिम राजनीति** — अज़हर अंसार

देश की राजनीति एक ऐसी दिशा में चल रही है जो गंभीरता से सोच-विचार का आह्वान कर रही है। देश की इस तात्कालिक राजनीति के कई पहलू ऐसे हैं जो लोकतंत्र और उसकी आत्मा के विरुद्ध हैं। ऐसे समय में मुस्लिम राजनीति के समक्ष केवल अपने मुद्दों के समाधान ही का नहीं बल्कि इस राजनीति को एक नई सकारात्मक दिशा दिखाने का भी अवसर है!

26 **मेरा वोट मेरा घोषणापत्र**

देश में आम चुनाव का वातावरण है और विभिन्न राजनीतिक दल अपने स्तर पर आगामी चुनावों में जनता को रिझाने के लिए एक बार फिर लंबे-चौड़े वादों तथा आशाओं के "घोषणापत्र" के साथ मैदान में हैं इसी परिप्रेक्ष्य में छात्र विमर्श ने छात्रों की राय को अपने विशेषांक '**शिक्षा विमर्श**' में '**मेरा वोट मेरा घोषणापत्र**' के रूप में प्रकाशित किया है!

29 **विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय सिर्फ़ सोचने से नहीं बना करते** — प्रोफ़ेसर अपूर्वानंद झा

सरकार का यह कहना कि वह विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय बनाने को संकल्पबद्ध है एक खोखला जुमला लगता है, वह इसलिए कि जो विश्वविद्यालय अभी हैं उनके साथ उसके व्यवहार से श्रेष्ठता के सिद्धांत को लेकर उसकी प्रतिबद्धता में यक़ीन नहीं जगता

इस अंक में

सम्पादकीय

– तय्यब अहमद 5

छात्र घोषणापत्र

– सय्यद अहमद मुज़क्किर 10

लोकसभा चुनाव 2019 और सोशल मीडिया

– इनामुर्रहमान खान 17

सोशल मीडिया कैंपेन और लोकसभा चुनाव

– सहीफ़ा खान 20

लोकसभा चुनाव 2019 से क्या हैं भारतीय युवाओं की आकांक्षाएं?

– नूरा सलाम 22

हम परेशान हैं कि सच को कौन उजागर करेगा?

– अनिल चमड़िया 24

124 वां संवैधानिक संशोधन आरक्षण विधेयक और सामाजिक न्याय के कथित यो ाओं की भूमिका

– विश्वंभर नाथ प्रजापति 31

क्यों एएमयू और जामिया मिल्लिया इस्लामिया,बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के समान आरक्षण मानदंड का पालन नहीं कर सकते?

– वजाहत जीलानी 35

क्यों एक विश्वविद्यालय को आतंक का अ ा कहना घोर अपराध है?

– मुहम्मद नवेद अशरफ़ी 39

भारतीय छात्र राजनीति और एएमयू

– उज़्मा सरवत 42

हामिला (कहानी)

– उज़्मा सरवत 46

कविताएं

– नज्मु सहर, तल्हा मन्नान 48

पेशकश – हिन्दी लेखन कार्यशाला का आयोजन

– मुहम्मद अफ़ग़ान अली, मज़हर–उल–इस्लाम 52

चुनावी वादे एवं शिक्षा व्यवस्था

लोकसभा चुनाव 2019 की बिसात बिछ चुकी है। सभी राजनीतिक दल पूरी तैयारियों के साथ चुनावी रण में अपनी दावेदारी ठोंक रहे हैं। बड़े-बड़े वादों, संकल्पों तथा प्रलोभनों से सुसज्जित घोषणापत्रों के द्वारा जनता की बहुलता को अपने पक्ष में करने के सभी हथकंडे प्रयोग में लाये जा रहे हैं। इन्हीं दलों द्वारा जनता के लिए अन्न, जल, स्वास्थ्य आदि विभागों की बड़ी योजनाएँ तो प्रस्तुत की जा रही हैं किन्तु शिक्षा एवं शिक्षा व्यवस्था के सतत विकास हेतु किसी दल ने भी स्पष्ट कार्य योजना एवं संकल्प का निर्धारण नहीं किया है।

शिक्षित समाज – विकसित समाज के मूलभूत मंत्र को दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र भारत में आज भी राजनीतिक दल दरकिनार करते हुए जनता को मूर्ख बनाने में लगे हुए हैं। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा जनसामान्य तक सर्वसुलभ बनाना किसी भी देश की सत्ता का प्राथमिक दायित्व है तथा यही सभी राजनीतिक दलों का संकल्प होना चाहिए। किन्तु विडम्बना यह है कि इस मुद्दे पर सत्ता पक्ष एवं विपक्षी दलों के पास ऐसे संकल्पों का अभाव है। इस विशेषांक में शिक्षा व्यवस्था की वर्तमान दशा की समीक्षा करते हुए वास्तविक योजना एवं कार्यप्रणाली को दर्शाया गया है।

लोकसभा के पिछले चुनावों में जनता कॉंग्रेस की आर्थिक नीतियों से आहत थी। महँगाई की ज़बरदस्त मार झेल रही जनता को लोकलुभावन वादों से भाजपा ने राजग नीत सरकार बनाई। जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं को रौंदते हुए देश की संस्कृति एवं सामाजिक ताने-बाने के साथ किस प्रकार खिलवाड़ किया गया सब जानते हैं। सांप्रदायिक विद्वेष, हिंसा, लिंचिंग, भ्रष्ट आर्थिक नीतियाँ, शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर योजना का अभाव, महँगाई, नए करों (Taxes) की मार, बेरोज़गारी का आसमान छूता ग्राफ़ तथा सुरक्षा के मोर्चे पर नाकामी आदि जैसे मुद्दे पिछले 5 वर्ष की गाथा बयान कर रहे हैं, जिससे जनता-जनार्दन पूर्णतया वाक़िफ़ है।

इस चुनावी रण में राजनीतिक दल व उनके द्वारा खड़े प्रत्याशियों, उनके समर्थकों, कार्यकर्ताओं तथा घोषणापत्रों के साथ यह जनता के लिए भी कसौटी है कि अपना भविष्य वह किन हाथों में सौंपने जा रही है।

✍ तय्यब अहमद



शिक्षा नीति पर भारी सरकारी नीति

अभय कुमार

मोदी सरकार के कार्यकाल के पांच साल लगभग पूरे हो गए हैं। अब उन्हें लोकतांत्रिक पर्व में भागीदारी लेकर जनता को अपने पांच साल के कार्यकाल का लेखा–जोखा जनता के सामने पेश करना है। हालांकि यह कहना अभी जल्दबाज़ी होगी कि जनता का क्या फ़ैसला होता है! फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सरकार की ग़लत नीतियों का विरोध करने में जो वर्ग पिछले पांच सालों में सबसे आगे रहा है, वह है छात्र एवं युवा वर्ग। छात्रों के अलावा किसान, मज़दूर, अल्पसंख्यक, दलित, आदिवासी, पिछड़े और अन्य शोषित वर्ग भी मोदी सरकार की नीतियों का शिकार रहे हैं। लेकिन सरकार को यह बात अच्छे से पता है कि इस महीने होने वाले लोकसभा चुनाव में मतदान के लिए सबसे अधिक संख्या युवा वोटरों की है और अगर इनकी नाराज़गी चुनाव तक बरक़रार रही तो भाजपा का दोबारा सत्ता में आना मुश्किल होगा।

छात्रों के आक्रोश को दूर करने के लिए मोदी सरकार अगर कुछ करना भी चाहे तो अब नहीं कर सकती। क्योंकि देर बहुत हो चुकी है और चुनाव की तारीख़ों की भी घोषणा हो चुकी है। सरकार चुनाव कमीशन द्वारा बनायी गयी सीमाओं को मानने के लिए बाध्य है। इसलिए वह अगर मन लुभावन नीतियां लाना चाहे तो भी नहीं ला सकती। जब हम मोदी सरकार की शिक्षा नीति पर नज़र डालते हैं तो हमें मायूसी ही हाथ लगती है। शिक्षा को सब तक पहुंचाने, उसके बजट को बढ़ाने और रोज़गार के मौक़े ज़्यादा से ज़्यादा उपलब्ध कराने के वादों को मोदी जी ने पूरा नहीं किया। यह सारे वादे केवल चुनावी जुमले ही साबित हुए।

यही कारण है कि मोदी सरकार के पांच सालों के दौरान सरकारी तंत्र और छात्र आमने–सामने खड़े रहे हैं। कुछ लोगों ने तो यहां तक कह दिया कि मोदी सरकार के ख़िलाफ़ वास्तविक अर्थों में छात्रों ही ने विपक्ष की भूमिका निभाई है। जब मोदी जी की ग़लत नीतियों पर आलोचना करने की हिम्मत विपक्षी पार्टियां भी नहीं जुटा पायीं, तब विश्वविद्यालयों से मोदी सरकार मुर्दाबाद के नारे बुलंद किए। जब मोदी सरकार ने शिक्षा का निजीकरण और भगवाकरण का एजेंडा थोपना शुरु किया, तब छात्रों के सामने विरोध करने के अलावा कोई चारा ही नहीं था। पूरे पांच साल छात्र सड़कों पर सरकार की ग़लत नीतियों और षड्यंत्रों के ख़िलाफ़ नारे बुलंद करते रहे। एक लंबे समय के बाद सरकार और छात्र एक दूसरे से भिड़ते रहे। मोदी सरकार ने जो हमले शिक्षा पर किये उन सब का उल्लेख करना तो यहां संभव नहीं है, लिहाज़ा मैं जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षण संस्थानों से जुड़ी हुई कुछ घटनाओं का उल्लेख करुंगा। इसमें कोई दो राय नहीं कि मोदी सरकार इन संस्थानों पर हमले दर हमले करती रही। दूसरी तरफ़ छात्रों ने भी उसके ख़िलाफ़ ज़बरदस्त विरोध प्रदर्शन किये। यह लेख मोदी सरकार की विरोधी नीतियों और

उसके ख़िलाफ़ किये गए विरोध का वर्णन है। लिखने वाला खुद भी इन हमलों का शिकार रहा है और उन विरोध प्रदर्शनों का हिस्सा भी रहा है।

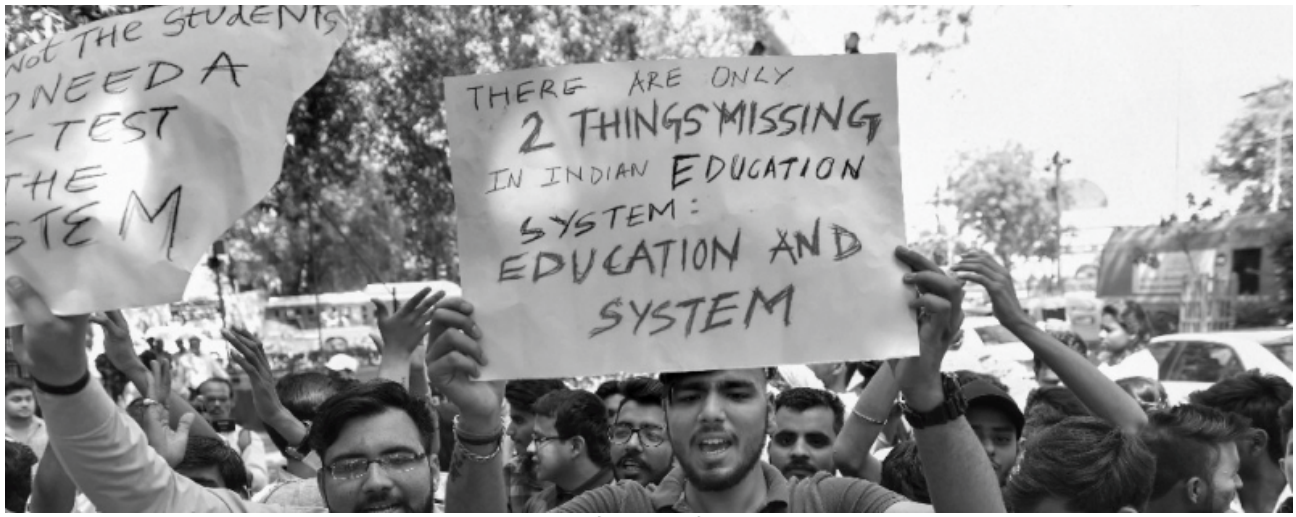
छात्रों का विरोध इस बात के विरुद्ध था कि मोदी सरकार की शिक्षा नीति ने ग़रीब और पिछड़े वर्ग को शिक्षा से काफ़ी पीछे धकेल दिया है। न केवल फ़ीस में बेतहाशा वृद्धि हुई है, बल्कि स्कॉलरशिप में भी काफ़ी कटौती कर दी गयी है। अगर काग़ज़ पर स्कॉलरशिप मिल भी रही है तो उसको हासिल करने की राह में काफ़ी रुकावटें खड़ी कर दी गयी हैं। मिसाल के तौर पर अल्पसंख्यकों को दी जाने वाली मौलाना आज़ाद नेशनल फ़ेलोशिप में नेट पास करना अनिवार्य कर दिया गया है। वहीं दूसरी तरफ़ नेट पास करने वाले उम्मीदवारों की संख्या काफ़ी कम कर दी गयी है। इतना ही नहीं शिक्षण संस्थानों में छात्रों की इनटेक सीट कम कर दी गयी हैं। कई संस्थानों में शोध कर रहे छात्रों के लिए दरवाज़े बंद कर दिये गए। विश्वविद्यालयों और दूसरे शिक्षण संस्थानों के फंड और ग्रांट में ज़बरदस्त कटौती कर दी गयी। सेमिनार, लाइब्रेरी, लैब के लिए प्रस्तावित बजट में बढ़ोत्तरी करने के बजाय उसमें कटौती कर दी गयी। शिक्षण संस्थानों को स्वावलंबी बनाने के बहाने से पैसा उगाने का खुला लाइसेंस दे दिया गया।

शिक्षा का बजट कम होता चला गया। ऐसा इसलिए भी हुआ कि ऊंचे पदों पर विराजमान लोग जिन का काम पॉलिसी बनाना है, वे देश की शिक्षा पर ख़र्च किये जाने वाले पैसों को केवल बर्बादी समझते हैं। वे यह भी झुठला देते हैं कि यह पैसा जनता की मेहनत की कमाई है और टैक्स की सूरत में वसूल किया जाता है। यदि यह पैसा शिक्षा पर ख़र्च किया जाता तो इससे बेहतर और क्या होता! लेकिन इनका उद्देश्य यह है कि जो भी शिक्षा सरकारी बजट पर दी जाती है उसको प्राइवेट कंपनियों को दे दिया जाए। मतलब यह है कि शिक्षा भी दूसरी चीज़ों की तरह बाज़ार में बेच दी जाए। शिक्षा के निजीकरण का प्रमुख उद्देश्य यही है कि इसकी समाज के निचले तबक़े तक पहुंच न हो सके। इन नीति निर्माताओं को डर है कि शिक्षा से वंचित वर्ग को अगर शिक्षा मिलने लगे तो यह पूंजीपति व्यवस्था के लिए संकट पैदा हो सकता है। यदि ग़रीब, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक शिक्षित हो गए तो उनका शासन कैसे बरक़रार रहेगा!

यह भी कितनी अफ़सोसनाक बात है कि जहां मोदी सरकार ने शिक्षण संस्थानों के फ़ंड में कमी की, वहीं करोड़ों–अरबों के सरकारी पैसे को अपनी सरकार के प्रचार में लगा दिया। यदि ये पैसे शिक्षा पर ख़र्च हुए भी तो वह मूलभूत आवश्यकताओं के लिए नहीं बल्कि कैमरे लगवाने और सुरक्षा बढ़ाने के लिए ख़र्च किए गए। इसी प्रकार नीतियों को लागू करने पर नेता और अधिकारियों को बड़ा कमीशन मिलता है। जो बाक़ी पैसे बचे उनका बड़ा हिस्सा भगवा विचारधारा के नेताओं की मूर्ति लगाने, आरएसएस और भाजपा के कार्यक्रम आयोजित कराने में ख़र्च हो गए।

यह समानता देखिए कि पिछड़े और चाय बेचने वाले ग़रीब के नाम पर वोट मांगने वाले नरेंद्र मोदी ने पूरे पांच साल पूंजीपतियों और आरएसएस के लिए काम किया। स्वयं को बाबा साहब का अनुयायी मानने वाले प्रधानमंत्री ने विश्वविद्यालयों मे आरक्षण पर हुए हमले दर हमले के ख़िलाफ़ मुंह तक नहीं खोला। क्या मोदी यह नहीं जानते कि अंबेडकर यह चाहते थे कि सरकार समाज के हर वर्ग, विशेष रुप से पिछड़े वर्ग, की भागीदारी सरकारी कामों में ज़्यादा से ज़्यादा सुनिश्चित करे।

यह भी याद रखने की ज़रुरत है कि मोदी ने अपने चुनाव प्रचार के समय यह भी कहा था कि वह मुसलमानों के विकास के लिए चिंतित हैं और उनके हाथ में क़ुरआन और कंप्यूटर दोनों देखना चाहते हैं। मगर मुसलमानों के साथ न्याय नहीं किया गया और उनसे किये गए वादों को पूरा नहीं किया गया। अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर ध्यान देना तो दूर बल्कि उल्टा उनको निशाना बनाया गया। जिन विश्वविद्यालयों में अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों की संख्या अधिक थी उनकी फ़ीस बढ़ा दी गयी। सच्चर कमेटी रिपोर्ट और मिश्रा कमीशन की सिफ़ारिशों के बावजूद



सरकार शिक्षा को लेकर उदासीन रही। उल्टा अल्पसंख्यकों के शिक्षण संस्थानों पर भगवा आंतक पसंद लोगों ने हमले किये। अल्पसंख्यकों को इंसाफ़ देने और हमलावरों को सज़ा देने के बजाए पुलिस और प्रशासन सरकार के दबाव में ख़ामोश रहा या हमलावरों को सुरक्षा मुहैया करायी गयी।

अगर कहा जाए कि मोदी सरकार की शिक्षा नीतियों ने देश के शिक्षण संस्थानों की बुनियादों को खोदने का काम किया है, तो यह ग़लत नहीं होगा। जो शिक्षण संस्थान बरसों से चले आ रहे हैं और देश के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं, उन पर हमले किये गये, केवल एक उद्देश्य से कि उनके किरदार को बदल दिया जाए। जो संस्थान खुद को बदलने को तैयार नहीं थे उनको बर्बाद करने की कोशिश की गयी। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि लिबरल और सेक्युलर संस्थानों में संघ का लंबे समय से प्रवेश वंचित है और यह संस्थान संघ की नफ़रत भरी विचारधारा को कुबूल नहीं करते हैं। यहां एक बात को स्पष्ट करना आवश्यक है कि लेखक का यह मानना नहीं है कि शिक्षण संस्थानों पर हमले मोदी सरकार से पहले नहीं हुए थे। दरअसल पिछली सरकारों ने भी शिक्षा को काफ़ी नुक़सान पहुंचाया। मोदी जी से पहले मनमोहन सरकार ने भी शिक्षा के निजीकरण की नीति अपनायी थी। उससे पहले वाजपेयी जी ने भी शिक्षा के निजीकरण और भगवाकरण की कोशिश की थी। वाजपेयी के ज़माने में कोर्स बदलने की भी कोशिश की गयी। नौकरियों में नियुक्ति के लिए भगवा विचारधारा को तरजीह दी गयी। यह सब कुछ एक लंबी योजना के तहत किया गया।

इतिहास इस बात की गवाही देता है कि आरएसएस, जनसंघ और बीजेपी प्रथम दिन से ही शिक्षा के ऊपर सरकारी बजट को कम करने के हक़ में रहे हैं। भगवा ताक़तें यह चाहती हैं कि शिक्षा का निजीकरण हो। उनके साथ–साथ संघी नज़रिया लिबरल फ़न, कला और समाजिक ज्ञान के लिए उदासीन रवैया रखता है। उनके मुक़ाबले में वह तकनीकी और प्रोफ़ेशनल शिक्षा को ज़्यादा तवज्जो देना पसंद करता है। लेकिन प्रोफ़ेशनल शिक्षा से उसकी मुहब्बत भी गंभीर नहीं है, यदि ऐसा होता तो उसके दौर में संस्थानों की फ़ीस न बढ़ती।

आर्ट एवं कल्चर के ज्ञान को तेज़ धार करने के लिए मोदी सरकार ने देश के उच्च शिक्षण संस्थानों पर हमले किये। मोदी सरकार ने यह तय किया कि जो संघ परिवार के ख़लिाफ़ छात्रों को ज्ञान देते हैं उनको बदनाम किया जाए। इस योजना के तहत फिल्म एंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट में बीजेपी का डायरेक्टर नियुक्त कर दिया गया। इस नियुक्ति के ख़लिाफ़ सैकड़ों छात्र 160 दिनों तक भूख हड़ताल पर बैठे रहे। उनकी मांग थी कि बीजेपी के सदस्य गजेंद्र चौहान को इंस्टीट्यूट के अध्यक्ष पद से हटाया जाए क्योंकि उनकी योग्यता उस ज़िम्मेदारी के लायक नहीं है। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि पार्टी चौहान को लाकर संस्थान के स्वरुप को बदलना चाहती थी। और फिर यह सिलसिला बढ़ता ही चला गया। बड़े–बड़े संस्थानों में अयोग्य लोगों को भेज दिया गया। डायरेक्टर, वीसी, प्रोफ़ेसर बनाकर भेजे गए यह लोग संस्थानों की बुनियाद कमज़ोर करने का काम अंजाम देने लगे।

इसी दौरान हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय से सरकार के ख़लिाफ़ आवाज़ उठनी शुरु हो गयी। वहां के एक दलित छात्र, जिसे हम 'रोहित वेमुला' के नाम से जानते हैं, को आत्महत्या करने के लिए मजबूर कर दिया गया। रोहित वेमुला को तरह–तरह से परेशान किया गया। उनकी फ़ेलोशिप रोक दी गयी। उसे हॉस्टल से निकाल दिया गया। एक दलित छात्र के लिए पूरा तंत्र मिलकर काम कर रहा था। मजबूरन उसने आत्महत्या करके पूरे देश में सनसनी फैला दी। दलित छात्र पूरे देश में विरोध करने लगे। उन की लड़ाई में पिछड़े वर्ग, अल्पसंख्यक वर्ग एवं अन्य आरक्षित वर्गों ने साथ दिया। विरोध से घबराकर सरकार ने कैंपस में पुलिस बुलाई और छात्रों के विरुद्ध ताक़त का इस्तेमाल किया। इस घटना ने साबित कर दिया कि मोदी सरकार का दलित प्रेमी होने का दावा केवल जुमलेबाज़ी से अधिक कुछ नहीं था।

रोहित वेमुला के मामले में बैकफुट पर गयी मोदी सरकार ने लोगों का ध्यान दूसरी तरफ़ मोड़ने के लिए जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय के ऊपर हमला कर दिया। एक जुलूस का हवाला देकर सरकार ने यह दावा किया कि जेएनयू में देश विरोधी नारे लगे हैं और आंतकवादियों के प्रतिनिधित्व में जुलूस निकाला गया। कॉरपोरेट मीडिया की मदद से जेएनयू को देश विरोधी घोषित कर दिया गया। सरकार के इशारे पर जेएनयू को बुरा–भला कहा गया। कई बार जेएनयू के छात्रों के साथ हिंसा करने की कोशिश की गयी और उन्हें ज़बरदस्ती फंसाया भी गया और अब तक किसी न किसी बहाने से उनको निशाना बनाया जा रहा है।

देशद्रोही के प्रोपेगेंडे के पीछे सरकार का असल उद्देश्य अपनी असफल शिक्षा नीतियों को छुपाना है क्योंकि जब टीवी पर डिबेट नेशनल बनाम एंटी नेशनल होने लगी तो सरकार की नाकामी दब गयी। लोग यह नहीं जान पाते हैं कि सरकार की शिक्षा पॉलिसी वंचित वर्ग को शिक्षा से दूर कर रही है। जेएनयू की एक वजह यह भी थी कि यह संस्थान सामाजिक न्याय और उदारवादी सोच को अपनाने की कोशिश करता है। जो लोग जेएनयू से परिचित हैं वे यह अच्छी तरह से जानते हैं कि वंचित वर्ग और महिलाओं को अलग से मौक़े दिये जाते हैं ताकि वे अधिक संख्या मे दाख़िला ले सकें। उदारवादी सोच को बढ़ावा देने वाले इस संस्थान में समानता दूसरे संस्थानों से अधिक देखने को मिलती है।

एंटी नेशनल प्रोपगेंडा अभी थमा भी नहीं था कि जेएनयू में एक नया फ़ितना खड़ा हो गया। उत्तर प्रदेश के

एक छात्र नजीब ने 2016 में एमएससी कोर्स में दाखिला लिया था। उसे अभी चंद महीने ही गुज़रे थे कि भगवा पसंदों ने मामूली–सी बात पर आधी रात में उसे पीटा और फिर वह दूसरे दिन से अपने हॉस्टल से लापता हो गया। तब से लेकर अब तक नजीब गायब है। अपने बेटे के लिए इंसाफ़ को भटकती उसकी मां पूरे ढाई साल से लगातार संघर्ष कर रही है, लेकिन उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं हो सकी। नजीब केस ने मुस्लिम छात्रों के दिलों में खौफ़ भर दिया। वह जेएनयू और दूसरे शिक्षण संस्थानों में दाखिला लेने से पहले सोचने लगे।

इसी तरह जेएनयू पर हमले दर हमले होते रहे। विश्वविद्यालयों का निजीकरण करने और संघी नज़रिये के लोगों को नौकरियों में वरीयता दी जाती रही। यहां तक कि शिक्षा का स्तर चौपट कर दिया गया। दूसरी तरफ़ आरक्षण भी पूरा नहीं किया जा रहा है। प्रवेश के लिए बनाए गये पैटर्न में बहुविकल्पीय प्र नों की व्यवस्था की जा रही है जिससे छात्रों के एनालिटिकल लेवल यानि चिंतन स्तर की जांच नहीं हो सकेगी जो कि शोध के लिए काफ़ी महत्वपूर्ण होता है। इसके अलावा इस साल की प्रवेश परीक्षाओं में फ़ीस को बढ़ा दिया गया है जिसका छात्र विरोध कर रहे हैं।

एक तरफ़ फ़ीस में बढ़ोत्तरी को फ़ंड पैदा करने के नाम पर सही क़रार दिया गया है, वहीं जनता के पैसों को पानी की तरह बहाया जा रहा है। उदाहरण के तौर पर जेएनयू प्रशासन ने लाखों रुपये मूर्ति बनाने और संघ से जुड़े बाबा और गुरुओं के कार्यक्रमों को आयोजित करने के लिए दे दिए। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ में भी फ़ीस बढ़ाने और वंचित वर्ग को दी जाने वाली स्कॉलरशिप को ख़त्म किये जाने के विरुद्ध लंबे समय तक लड़ाई चली लेकिन प्रशासन बज़िद रहा। फ़ीस न केवल सोशल साइंस बल्कि साइंस से संबधित दूसरी रिसर्च की भी बढ़ा दी गयी।

मोदी जी की सरकार में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर भी हमले हुए। बात–बात पर पुलिस बुलाई गयी। इस दौरान भगवा विचारधारा के लोगों ने विश्वविद्यालय का माहौल ख़राब करने की हर संभव कोशिश की। उनको सरकार और प्रशासन की तरफ़ से समर्थन मिला हुआ था। पिछले साल पुलिस के द्वारा एएमयू के कई छात्रों को निशाना बनाया गया। इस साल कई छात्रों, जिनमें छात्रसंघ के लीडर भी शामिल हैं, पर देशद्रोह का मुक़दमा दायर किया गया। सबसे ज़्यादा हंगामा तो मुहम्मद अली जिन्ना की तस्वीर को लेकर मचाया गया। नफ़रत फैलाने वालों ने मांग की कि जिन्ना की तस्वीर को विश्वविद्यालय से हटाकर फेंक दिया जाए। अगर ऐसा नहीं किया गया तो वहां के छात्रों को देशभक्त नहीं माना जाएगा। इस पूरे हंगामे का केवल एक उद्देश्य था एएमयू और वहां के छात्रों को बदनाम करना।

इन नफ़रत फैलाने वालों को कौन बताए कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा एक हक़ीक़त है। यह हिंदुस्तान की बदकिस्मती थी कि यह बंटवारा हुआ। मगर देश की तक्सीम भी हिंदुस्तान पाकिस्तान के सामूहिक इतिहास को अलग नहीं कर सकती। अगर देश के बंटवारे के लिए जिन्ना ज़िम्मेदार थे और जिन्ना की फ़ोटो जो उस ज़माने में एएमयू में लगी जब जिन्ना और कांग्रेस के नेता एक साथ काम करते थे तो फिर अंग्रेज़ों से जुड़ी हुई सारी यादगारें कैसे जायज़ हो सकती हैं, जिन्होंने हमारे मुल्क में दो सौ सालों तक राज किया और हमारा शोषण किया? बंटवारे के लिए कौन ज़िम्मेदार है, इसका जवाब भी आसान नहीं है। क्या यह हक़ीक़त नहीं है कि कांग्रेस पार्टी मुसलमानों की मांग को मानने के लिए तैयार नहीं थी।

एएमयू के अलावा जामिया मिल्लिया इस्लामिया में भी जिन्ना प्रेमी और हिंदू विरोधी होने का आरोप लगाकर हंगामा खड़ा किया गया। कुछ भगवाधारी आकर गेट पर हंगामा करने लगे। इनको कौन समझाए कि जामिया की स्थापना में महात्मा गांधी का महत्वपूर्ण योगदान है और यह विश्वविद्यालय कांग्रेस द्वारा 1920 में बनायी गयी शिक्षा पॉलिसी के तहत वजूद में आया। क़ौमी पॉलिसी का उद्देश्य था कि ऐसे शिक्षण संस्थानों की स्थापना की जाए जो हिंदुस्तानियों की आवश्यकताओं को पूरा करें।

मोदी के इन पांच सालों के काल में कश्मीरी छात्र भी निशाने पर रहे। शिक्षा के लिए अपना घर छोड़ कर देश के विभिन्न हिस्सों में पढ़ाई करने के लिए आए इन नौजवानों को निशाना बनाया गया। कहीं क्रिकेट के मैदान में भारत पाकिस्तान से मैच हार गया तो उस गुस्से में कश्मीरियों पर हमले किये गए। उन पर आरोप मढ़े गये कि वे पाकिस्तान के जीतने पर खुशी मना रहे थे। जब कभी हिंदुस्तानी फ़ौज पर हमले हुए तो उनके सोशल मीडिया के पोस्ट ढूंढ ढूंढकर सामने लाया गये और उन पोस्ट से आंतकवादी साबित करने की कोशिश की गयी। उनको विश्वविद्यालयों से बाहर कर दिया गया।

दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग के ऊपर भी ज़बरदस्त मार पड़ी। उन्हें भले ही पाकिस्तान का हमदर्द न कहा गया हो लेकिन संवैधानिक अधिकार और आरक्षण को लेकर हमले किये गये। उनके ख़िलाफ़ साज़िश रची गयी और 13 प्वाइंट रोस्टर के नाम पर उनका आरक्षण समाप्त करने की कोशिश की गयी।

ये सारे घटनाक्रम बयान कर रहे हैं कि मोदी सरकार की शिक्षा नीति सामूहिक रुप से छात्र विरोधी रही है। भारत जैसे देश में ज़रुरत इस बात की है कि शिक्षा पर ज़्यादा से ज़्याद ख़र्च किया जाए लेकिन मोदी सरकार ने बजट बढ़ाने के बजाए उसे कम ही किया है। यही कारण है कि छात्र पांच सालों में लगातार विरोध प्रदर्शन ही करते रहे हैं। अगर उनका यह गुस्सा बरक़रार रहा तो मोदी सरकार के लिए दोबारा सत्ता में आना मुश्किल होगा।

(लेखक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शोधरत हैं।)



छात्र घोषणापत्र

सय्यद अहमद मुज़क्किर

भारत एक स्वतंत्र, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और विविधतापूर्ण देश है, जहां निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं –

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय। धर्म और अभिव्यक्ति की आज़ादी। क़ानून और अवसरों में समानता। भाईचारा और नागरिकों के सम्मान एवं गरिमा की रक्षा। ये वो मूल्य और अधिकार हैं जिन्हें भारतीय संविधान में सुरक्षित रखा गया है। ये हमारी राष्ट्रीय पहचान का अहम हिस्सा हैं। ये अधिकार और मूल्य हमें विश्व के उन देशों से अलग करते हैं जो अपने नागरिकों को ये अधिकार उपलब्ध नहीं कराते।

भारत की जनसंख्या लगभग एक सौ बत्तीस करोड़ है। भारत की एक और विशेषता यह है कि यहां का समाज एक विविधतापूर्ण समाज है, जहां सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और नस्ली विविधता पाई जाती है। इतनी बड़ी जनसंख्या और इतने विविधतापूर्ण समाज की समस्याएं भी बड़ी और विविध हैं। ऐसे हालात में आपसी सहमतियां और एकजुटता बनाए रखना काफ़ी मुश्किल होता है। इसके लिए ज़रूरी है कि देश का प्रत्येक नागरिक समाज की विविधता और रंगारंगी को बौद्धिक तौर पर स्वीकार करे। एक स्वस्थ्य समाज के निर्माण के लिए यह आवश्यक भी है। इसी के नतीजे में एक खुशहाल, शांतिपूर्ण और विकसित भारत का निर्माण हो सकेगा।

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। लोकतंत्र की विशेषता यह है कि इस व्यवस्था में जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनसे अपनी समस्याएं हल करा सकती है। लोकतंत्र की यही विशेषता उसे शासन के अन्य तरीक़ों से अलग बनाती है। लोकतंत्र में सरकार बनाने के लिए चुनाव, जनता को यह अवसर प्रदान करते हैं कि वह अपने प्रतिनिधियों के सामने अपनी मांगों को रखे और संसद व अन्य संस्थानों में उन समस्याओं का प्रतिनिधित्व हो सके। और अगर आवश्यकता हो तो समस्याओं के हल के लिए उचित क़ानून बनाए जा सकें। चुनावी घोषणा–पत्र के माध्यम से जनता या जनता का कोई गिरोह उम्मीदवारों तक उनकी मांगों को पहुंचाता है।

लोकसभा चुनाव 2019 के उपलक्ष्य में एक बड़े छात्र संगठन स्टूडेंट्स इस्लामिक ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ इंडिया (एसआईओ) ने एक अनोखा क़दम उठाते हुए एक छात्र घोषणा–पत्र प्रकाशित किया है। यह घोषणा–पत्र देश की वर्तमान स्थिति, आवश्यकताओं और समस्याओं को ध्यान में रखते हुए और देश भर से छात्रों की राय लेने के बाद तैयार किया गया है।

इसीलिए इसे सीधे तौर पर देशभर के छात्रों और युवाओं की आवाज़ कहा जा सकता है। एसआईओ द्वारा तैयार किया गया घोषणा–पत्र दो हिस्सों और तीन शीर्षकों पर आधारित है। पहले हिस्से में देश की वर्तमान स्थिति और समस्याओं का अवलोकन किया गया है और दूसरे हिस्से में समस्याओं के हल और उनसे सम्बन्धित मांगों को शामिल किया गया है।

शिक्षा सम्बन्धी समस्याएं

शिक्षा मनुष्य और समाज के विकास का सबसे आवश्यक माध्यम है। देश के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास के लिए देश के नागरिकों का स्वावलंबी और शिक्षित होना नितांत आवश्यक है। इसलिए छात्र घोषणा–पत्र में शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं को केंद्र में रखा गया है। इसके अंतर्गत शिक्षा सम्बन्धी निम्नलिखित तीन समस्याओं पर चर्चा की गई है –

शिक्षा की पहुंच

भारतीय संविधान में शिक्षा प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के अनुसार 6 से 14 साल के बच्चे को निःशुल्क शिक्षा देना न सिर्फ़ माता–पिता का बल्कि राज्य का कर्तव्य है। इस अधिनियम को लागू हुए दस साल बीत चुके हैं लेकिन सरकारें इसे पूरी तरह लागू करने में नाकाम ही साबित हुईं हैं। इसी तरह शिक्षा प्राप्त करने में एक और रूकावट बेइंतहा शैक्षिक ख़र्च है। इसका कारण यह है कि सरकारें वार्षिक जीडीपी का अत्यंत कम या न के बराबर हिस्सा शिक्षा पर ख़र्च करती हैं। हालांकि दुनिया के अन्य देशों में वार्षिक जीडीपी को शिक्षा पर ख़र्च करने की दर 6 प्रतिशत से लेकर 10 प्रतिशत तक है। अफ़सोस है कि हमारे देश में वर्तमान सरकार ने यह दर घटाकर 2.7 प्रतिशत तक सीमित कर दी है। शिक्षा प्राप्त करने में एक और अहम रूकावट समाज के सभी वर्गों के लिए समान अवसरों का न होना भी है। भारत में उच्च शिक्षा में दर्ज अनुसूचित जातियों का प्रतिशत 14.4, अनुसूचित जनजातियों का प्रतिशत 5.2, और अन्य पिछड़े वर्गों का प्रतिशत 35 है। मुस्लिम छात्र मात्र 5 प्रतिशत और अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के छात्रों का प्रतिशत भी मात्र 2.2 है।

इसके अलावा शिक्षा की पहुंच में एक रुकावट आवागमन व्यवस्था की बदहाली भी है। शिक्षण संस्थानों की भौगोलिक स्थिति भी इस सिलसिले में रूकावट बनती है। शिक्षण संस्थान अगर कहीं मौजूद भी हैं तो वहां मूलभूत सुविधाओं की कमी है। कहीं मुनासिब इमारतें नहीं हैं। कहीं कक्षा–कक्ष, श्यामपट्ट, कुर्सी–मेज़ इत्यादि उपलब्ध नहीं है। कहीं विद्यार्थियों के पीने के लिए साफ़ पानी और शौचालय की उचित व्यवस्था नहीं है। शारीरिक रूप से दिव्यांग छात्रों के लिए शिक्षण संस्थानों में उनकी आवश्यकता के अनुसार व्यवस्थाएं, उनकी बेहतर शिक्षा के लिए उचित पाठ्यक्रम और तकनीकी सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हैं। आंखों की रोशनी खो चुके विद्यार्थियों पर इन असुविधाओं का सबसे ज़्यादा असर पड़ता है। शिक्षा को पहुंच में लाने का अहम माध्यम "मुहल्ला स्कूलों" की व्यवस्था भी है। लेकिन शिक्षा का अधिकार अधिनियम के तहत इसका पालन अभी तक नहीं किया गया है। केंद्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय प्रशासन हमेशा इस सिलसिले में उचित आर्थिक सहायता प्राप्त न होने का बहाना बनाते हैं।

शिक्षण संस्थानों एवं अन्य शिक्षा संबधी उपलब्धता के बावजूद वर्तमान समय में छात्रों के लिए गरीबी उनकी शिक्षा में सबसे बड़ी रुकावट है। गरीबी शिक्षा के मार्ग में बाधा न उत्पन्न करे इसके लिए सरकारें छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की सुविधा पहुंचाती हैं। हिंदुस्तान में भी छात्रों के लिए विभिन्न छात्रवृत्तियां उपलब्ध हैं लेकिन या तो छात्रों को जानकारी नहीं होती या फिर सरकारी कार्यों में अनुशासनहीनता एवं लंबी जटिल प्रक्रिया के कारण छात्र इन योजनाओं से लाभ नहीं उठा पाते। कई बार तो यह भी होता है यदि किसी छात्र को कोई स्कालरशिप मिलती भी है तो बढ़ती हुई मंहगाई के कारण वह छात्र शिक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है। यह स्कालरशिप इस लिए भी पर्याप्त नहीं हैं कि छात्रों की संख्या में बढ़ोतरी हुई हैं लेकिन छात्रवृत्ति के लिए उपलब्ध बजट में सरकारों को तरफ से बढ़ोतरी नहीं की गयी। यह परिस्थिति इस बात की मांग करती है कि सरकारें अनावश्यक खर्चों में कटौती करते हुए देश के उज्जवल भविष्य के लिए शिक्षा पर अधिक से अधिक पैसे खर्च करें।

एक और महत्वपूर्ण मुद्दा जिस पर ध्यान देना आवश्यक है, दीनी मदरसों से शिक्षा हासिल करने वाले छात्रों को बहुत से सरकारी विश्वविद्यालय अपने यहां प्रवेश नहीं देते जिस कारण उन छात्रों के लिए उच्च शिक्षा हासिल करने का दरवाज़ा बंद हो जाता है या फिर विकल्प सीमित हो जाता है। यदि एक ज़रुरी प्रक्रिया को शुरु कर सरकार मदरसों की डिग्री को स्वीकार करने लगें तो एक यह कि छात्रों को व्यक्तिगत रुप से लाभ मिलेगा और दूसरे वह अपने समुदाय के विकास के लिए एक उम्मीद बनेंगे और तीसरे यह कि अपनी असाधारण प्रतिभा को सामने लाकर देश के विकास एवं नव निर्माण

में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे।

युवाओं की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ

भारत दुनिया में सबसे अधिक युवा जनसंख्या वाला देश है। यहां हर साल लाखों एवं करोड़ों की संख्या में छात्र एवं युवा रोज़गार के मैदान में कदम रखते हैं। लेकिन देश में विकास का मॉडल कुछ इस प्रकार हैं कि पिछले दो दशकों में न रोज़गार में आवश्यकतानुसार बढ़ोतरी हुई है और न ही रोज़गार पाने वाले युवाओं की संख्या बढ़ी है। इस समय देश में बेरोज़गारी की दर 6.1 प्रतिशत है। यह दर पिछले 45 सालों में सबसे अधिक है। देश की सरकारें शिक्षा और बेरोज़गार युवाओं को रोज़गार मुहैया करने, उनकी प्रतिभा को देश के विकास में लगाने में असफल साबित हुई हैं। बेरोज़गारी के कारण रचनात्मक दृष्टि रखने वाले प्रतिभा के धनी युवाओं का गलत इस्तेमाल हो रहा है जिस कारण समाज में अपराध बढ़ रहे हैं।



मानवाधिकार

भारत में वैसे तो मानवाधिकार के हनन की कहानी सदियों से चली आ रही है लेकिन पिछले कुछ वर्षों में बहुत ही ख़तरनाक बढ़ोतरी हुई है। देश में अपराधिक घटनाओं में बढ़ोतरी हुई है। अपराध के तरीकों में भी परिवर्तन देखने को मिला है। देश के अल्पसंख्यक समुदाय विशेष रुप से मुसलमानों के विरुद्ध आंतकी गतिविधियों पर लगाम न कसने के कारण सरकारें भी इस की ज़िम्मेदार और इसमें शामिल हैं। जिस कारण स्थिति यह बन गयी है कि देश में भय और असुरक्षा की लहर दौड़ गयी है। लोग अपने आप को और अपने परिवार को सुरक्षित नहीं महसूस कर रहे हैं। विभिन्न वर्ग एवं धर्म के मानने वालों के बीच तनाव, नफरत की गहरी खाई पनप चुकी है। यह स्थिति देश के भविष्य के लिए बहुत बड़ा खतरा है। इस परिस्थिति का विपरीत असर छात्र एवं युवाओं पर पड़ा है।

मानवाधिकार के हवाले से देश में एक और बहुत संगीन मुद्दा है वह है बेकसूर मुस्लिम युवाओं की गिरफ्तारी एवं ज़बरदस्ती के झूठे मुकदमों से दो चार होना। पिछले दो तीन दशकों से बड़ी संख्या में छात्र एवं युवाओं को बेबुनियाद आरोंपों में फंसा कर फर्जी आंतकवादी साबित कर उनके भविष्य से खिलवाड़ हो रहा है। ऐसे ढेरों मुकदमे हैं जिनमें पुलिस और राज्य एवं केंद्र की तरफ से विशेष जांच एजेंसियों के द्वारा बेगुनाह युवाओं को अवैध तरीके से झूठे आरोप में फंसा कर गिरफ्तार किया गया और बेबुनियाद मुकदमे चलाए लेकिन अंत मे झूठ बेनकाब हुआ और अदालत ने नौ साल, दस साल जेल में काटने वाले युवाओं को बाइज़्ज़त बरी कर दिया।

व्यक्तिगत आज़ादी और सुरक्षा पर मंडराते ख़तरों में एक ख़तरा आज़ादी का गला घोंटना भी है। देश के संविधान में तमाम नागरिकों को एक समान आज़ादी उपलब्ध कराई गयी है। लेकिन आज कल सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों में देशवासियों की यह आज़ादी प्रभावित हो रही है। सरकार की तरफ से अभी कुछ समय पूर्व ही एक ऑर्डिनेंस जारी हुआ है जिस में विभिन्न जांच एजेंसियों को निगरानी रखने का विशेषाधिकार दे दिया गया है जो संविधान के खिलाफ है।

(लेखक **SIO** ऑफ इंडिया के राष्ट्रीय सचिव तथा सेंटर फॉर एजुके नल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग के डायरेक्टर हैं।)



देश का राजनैतिक परिदृश्य और मुस्लिम राजनीति

अज़हर अंसार

लोकसभा चुनाव 2019 का बिगुल बजते ही देश–भर में राजनैतिक उथल–पुथल शुरू हो गई है। सत्तारूढ़ पार्टी बीजेपी और कांग्रेस समेत सभी विपक्षी दलों ने अपनी रूपरेखा बना कर काम शुरू कर दिया है। वामदल और थर्ड फ्रंट की पार्टियाँ भी सचेत हो चुकी हैं। लगभग सभी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों ने अपने चुनाव प्रचार की शुरुआत कर दी है। देश–भर में मोदी बनाम विपक्ष की जंग छिड़ चुकी है। राहुल गाँधी की बहन प्रियंका गाँधी वाड्रा और इसी तरह व्यापार और फ़िल्म जगत की कई हस्तियों के राजनीति में क़दम रखने के बाद 2019 लोकसभा चुनावों की चर्चा बहुत ज़्यादा गर्म है। मीडिया चैनल्स के स्टूडियोज़ से लेकर गाँव की चौपाल तक हर ज़बान पर 2019 में बनने वाली सरकार की ही चर्चा है। 2019 के आम चुनाव मोदी–अमित शाह की जोड़ी, राहुल गाँधी और महागठबंधन के भविष्य को तय करेंगे। लोकसभा 2019 इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह चुनाव बीजेपी और दक्षिणपंथी दलों के देश में अस्तित्व और जनता के वैचारिक रुझान को तय करने वाला है।

भारतीय लोकतंत्र में किसी भी पार्टी या गठबंधन को केंद्र की सत्ता पर विराजमान करने में मुसलमानों की अहम भूमिका होती है। बल्कि यही बात एक हद तक क्षेत्रीय चुनावों पर भी लागू होती है। लेकिन सक्रिय राजनीति में मुसलमानों की भागीदारी न के बराबर है। मुस्लिम नेताओं और विचारकों को हमेशा यह शिकवा रहा है कि स्वतंत्रता के बाद से अब तक किसी भी सरकार ने मुसलमानों की समस्याओं को गंभीरता से नहीं लिया है। यह शिकवा एक हद तक स्वीकार्य भी है। यही कारण है कि आज मुसलमानों की राजनैतिक और आर्थिक हालत बहुत ही बदतर है। जो कुछ पिछले सालों में मोदी सरकार ने मुसलमानों के लिए किया, उससे मुस्लिम समाज को क्या फ़ायदा और क्या नुक़सान हुआ, यह सभी लोग जान रहे हैं। इसी सरकार में मुसलमानों पर अत्याचार की सबसे अधिक घटनाएँ हुईं। संसद से लेकर सड़क तक मुसलमानों के विरुद्ध प्रोपेगेंडा और अत्याचार की योजनाएं बनाई गईं। दिन–प्रतिदिन होनी वाली मॉब लिंचिंग्स को देख लीजिये या फ़िलहाल लाये गए नागरिकता संशोधन बिल (Citizenship Amendment Bill 2016) को देख लीजिये, यहाँ मुसलमानों के उत्थान की उल्टी गंगा बह रही है।

देश की राजनीति एक ऐसी दिशा में चल रही है जो गंभीरता से सोच–विचार का आह्वान कर रही है। देश की इस तात्कालिक राजनीति के कई पहलू ऐसे हैं जो

लोकतंत्र और उसकी आत्मा के विरुद्ध हैं। ऐसे समय में मुस्लिम राजनीति के समक्ष केवल अपने मुद्दों के समाधान ही का नहीं बल्कि इस राजनीति को एक नई सकारात्मक दिशा दिखाने का भी अवसर है। इसलिए यह समय की पुकार है कि हम तात्कालिक राजनीति के उजागर पक्षों की समीक्षा करें और मुस्लिम राजनीति के एजेंडा को सेट करें।

देश का वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य

अगर देश में जारी राजनीति की समीक्षा की जाए तो हम इसे, इसके पांच मुख्य पहलुओं के द्वारा समझ सकते है –

1. बहुसंख्यकवाद की राजनीति

पिछले लोकसभा चुनावों तक देश के राजनैतिक पंडितों का यह कहना था कि भारत की राजनीति और राजनैतिक पार्टियाँ विचारधारा से ख़ाली हैं, लेकिन 2014 में केंद्र में मोदी सरकार के आने के बाद यह परिदृश्य बिल्कुल उलट गया। एक विशेष विचारधारा से सम्बन्ध रखने वाला दल सत्ता पर विराजमान हुआ और देश की जनता ने इस सरकार के सम्पूर्ण कार्यकाल में सत्तारूढ़ दल के वैचारिक परिपेक्ष्य का प्रभाव देखा। इसका प्रभाव हमारे लोकतंत्र और लोकतान्त्रिक संस्थाओं से लेकर संविधान पर भी पड़ा। चाहे रोहित एक्ट बनाने की बात हो या मॉब लिंचिंग्स पर कोई क़ानून की बात हो, हमें सरकार का रवैया मालूम है। लेकिन जब आर्थिक आधार पर पिछड़े सवर्णों के लिए 10% आरक्षण की बात आई तो जिस प्रकार सरकार और पूरा विपक्ष इसके समर्थन में बिछा हुआ था! यह किस तरफ़ इशारा करता है? सामाजिक तौर पर पिछड़े समुदायों को न्याय दिलाने और आरक्षण की असल अवधारणा के पक्षधर उस समय कहाँ खो गए? पूरे यक़ीन से यह बात कही जा सकती है कि सरकार और देश के सभी दल अब खुल कर बहुसंख्यकवाद की राजनीति कर रहें हैं। विचारणीय बात तो यह है कि अब इस देश के बहुसंख्यक समुदाय की सेवा और उसकी संस्कृति के महिमामंडन को ही राष्ट्रवाद और देशप्रेम बताया जा रहा है। राहुल गाँधी को स्वंय एक जनेऊधारी हिन्दू होने का सबूत देना पड़ता है। बाबरी मस्जिद के मुद्दे पर भी सभी दलों का उल्टा रुख़ है। ऐसा इसलिए है कि कोई भी दल यहाँ के बहुसंख्यक समाज को नाराज़ नहीं करना चाहता है। ऐसे में अगर देश में कहीं सतत और संतुलित विकास की बात की जाए तो यह एक पूरे न होने वाले ख़्वाब की तरह है।

2. राजनैतिक दलों की संकीर्ण सोच

राजनीति जनलाभकारी तभी हो सकती है जब राजनेता खुली सोच और उदार हृदय वाले हों। जनता के फ़ायदे और नुक़सान के प्रति वे साफ़ दिल रखने वाले और प्रतिबद्ध हों। इस प्रतिबद्धता के सन्दर्भ में सब एक–दूसरे की पॉलिसी और एजेंडों को सम्मानजनक रूप से लें और अगर जनता के हित में कोई कार्यक्रम बने तो पार्टियाँ अपने हित का त्याग भी करें। संक्षिप्त में यह कि राजनीति में पार्टीवाद नहीं होना चाहिए। लेकिन समसामयिक राजनीति की हालत दूसरी है। यहाँ जनता के हित पर राजनेता और पार्टी का स्वार्थ हावी है। जनता के हित को कुचल कर राजनीति के गलियारे में सुन्दर महल का निर्माण किया जा रहा है। सदन में बैठे प्रतिनिधियों को जनता के बजाए अपनी और अपनी पार्टी की चिंता ज़्यादा रहती है। यही कारण है कि देश के



राजनेता बहुत ही संकीर्ण सोच वाले नज़र आते हैं। किसी सरकार या आन्दोलन की पॉलिसी को इसलिए ख़ारिज कर दिया जाता है क्योंकि वह किसी राजनेता के स्वार्थ या पार्टी के स्वार्थ के विरुद्ध होती है। एफ डी आई को लेकर यूपीए सरकार के कार्यकाल में बीजेपी

का क्या कहना था, सब जानते हैं। लेकिन इनके सरकार बनाने के बाद यह उसी चीज़ को देश और जनता के लिए अंकुरित फ़सल कहने लगे जिसे कल तक ये बंजर ज़मीन कह रहे थे।

3. भ्रष्टाचार

मीडिया संस्थानों के स्टूडियो में बैठा एंकर चाहे जितना झूठ और दुष्प्रचार फैलाए लेकिन जनता को पता है कि 'न खाऊंगा, न खाने दूंगा' का नारा देकर सत्ता को लपकने वाले भी भ्रष्टाचार की गंगा में अपने हाथ धो रहे हैं। गली से लेकर दिल्ली तक यह गंगा बह रही है। पिछले पांच वर्षों में भी छोटे और बड़े स्तर के घोटालों की ख़बरें आती रही हैं। यह अलग बात है कि अब घोटालों का स्वरूप बदल गया है और मीडिया का इन घोटालों को लेकर रवैया भी भिन्न है। आज राजनीति से सच्चाई, अमानत और ईमानदारी जैसे मानव मूल्य समाप्त हो गए हैं। किसी भी पार्टी के नेता के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कभी भ्रष्टाचार की इस गंगा में हाथ न धोए होंगे। भ्रष्टाचार किसी भी प्रकार का हो, देश और जनता के लिए हानिकारक है। भ्रष्टाचार और घोटालों ने देश की इतनी संपत्ति निगल ली है कि आज देश की अर्थव्यवस्था ही डांवांडोल है। मंहगाई में वृद्धि का एक बड़ा कारण भ्रष्टाचार भी है, जिसकी मार आम आदमी इस देश में हर सरकार में झेलता आ रहा है। नोटबंदी, राफेल मामला और पूंजीपतियों का देश का पैसा लेकर फ़रार हो जाना वर्तमान सरकार के



भ्रष्टचारी कार्यों के जीवंत उदहारण हैं।

4. अधिनायकवाद और चुनाव आधारित राजनीति

सत्तारूढ़ दल सहित सभी राजनैतिक पार्टियाँ इस समय सक्रिय हैं और हर पार्टी अपने–अपने चेहरे बना रही है जिन्हें वह जनता के सामने भावी प्रधानमंत्री के रूप में पेश करेगी। राजस्थान से लेकर बंगाल तक, उत्तर से लेकर दक्षिण तक सभी राजनैतिक दल प्रचार–प्रसार में लगे हुए हैं। बड़ी–बड़ी रैलियों का आयोजन कर रहे हैं। आमजन के बीच जा रहे हैं। विचारकों और पूंजीपतियों के साथ बैठकें कर रहे हैं। आख़िर ये सब अभी तक कहाँ थे? मीडिया के द्वारा 'मोदी बनाम राहुल' का पंच ट्रेंड पर है। इन दिनों इतनी असाधारण हलचल का कारण सिर्फ़ आगामी लोकसभा चुनाव है, लेकिन राजनीति केवल चुनावी हंगामों का नाम नहीं है। अपितु जन की सेवा, जनता की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने और उनकी समस्याओं को हल करने के उत्तरदायित्व का नाम है। लेकिन देश की राजनीति से यह अवधारणा ग़ायब नज़र आती है। यहाँ चुनावी उथल–पुथल का नाम ही राजनीति बनकर रह गया है। पहली बात तो यह कि पार्टियों की गतिविधियाँ केवल चुनावों के समय नज़र आती हैं, दूसरा यह कि ये गतिविधियों होती भी हैं तो व्यक्ति केन्द्रित या पार्टी केन्द्रित! जनता के असल मुद्दे और समस्याएं इन गतिविधियों में नहीं होती हैं। हर पार्टी अपने कैंडिडेट को 'सुपरमैन' साबित करने के लिए सारे हथकंडों का प्रयोग करने में लगी होती है। अंततः पूरी राजनीति व्यक्ति केन्द्रित होकर रह जाती है। जो लोकतंत्र की अवधारणा के ख़िलाफ़ है।

5. साम्प्रदायिकता और सनकी राष्ट्रवाद

साम्प्रदायिकता भारत में होने वाली राजनीति का एक अंधकारमय पक्ष है। दो अलग–अलग धर्मों को मानने वाले लोगों में नफ़रत की आग भड़का कर उसमें अपनी 'सियासी रोटियां' सेंकना इस राजनीति का एक कारगर हथकंडा बन चुका है। इस सांप्रदायिक राजनीति के फेर में देश के दो बड़े धार्मिक समुदाय आपस में लड़–भिड़ रहे हैं। कहीं गाय के नाम पर, तो कहीं टोपी–कुरता के नाम पर। फ़ासीवादी ताक़तों ने इस देश के कुछ राजनैतिक गुंडों को नफ़रत की शराब ऐसी पिलाई है जिसका नशा उनके सर से उतरने का नाम नहीं ले रहा है। वे जब मुंह खोलते हैं तो नफ़रत ही उगलते हैं। फ़ासीवादी ताक़तें जो आज केंद्र में शासन कर रही हैं, वे देश की आम जनता के सामने यह साबित करना चाहती हैं कि इस देश की मुस्लिम आबादी का इस देश से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये बाहरी घुसपैठिए हैं या ज़बरदस्ती मुस्लिम बनाये गए साधारण हिन्दू। ये हिन्दू धर्म और उससे सम्बंधित अवतार और भगवानों का आदर नहीं करते। इनको पाकिस्तान भेज देना चाहिए या ख़त्म कर देना चाहिए। इस प्रकार की द्वेष भरी बातों से एक आम

नागरिक असमंजस की स्थिति में पड़ जाता है। 2014 में उत्तर प्रदेश के दादरी में एक अफ़वाह के कारण मारे गए मुहम्मद अख़लाक़ से लेकर पहलू ख़ान और अफ़राज़ुल की हत्या के पीछे के कारणों को देख लीजिये, पीछे काम करती हुई यही नफ़रत की राजनीति और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सनक सामने आएगी।

ऊपर प्रस्तुत किए गए तथ्य देश के वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य का दर्पण हैं, जिसमें आप इस राजनीति के कुरूप और सुन्दर रूप आसानी से देख सकते हैं। इस वर्तमान राजनीति को सही दिशा देने में मुस्लिम पार्टियाँ एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं, लेकिन इस शर्त पर कि वे इन तथ्यों पर गहरी नज़र रखती हों और इन पर साफ़ मत रखते हुए भविष्य के लिए कोई ठोस योजना प्रस्तुत कर सकें।

लेकिन यह देखकर निराशा हाथ आती है कि आज मुस्लिम राजनेताओं के पास देश की राजनीति को प्रभावित करने का कोई एजेंडा ही नहीं है। यहाँ ऊँट निगल कर ज़ीरा छानने वाली हालत है। मुस्लिम नेता और पार्टियाँ अपने सारे संसाधन केवल एक–दो मामलों पर व्यर्थ कर रहे हैं। मुस्लिम पर्सनल लॉ एक ऐसा मामला है जो केवल मुस्लिम समुदाय से सम्बन्ध रखता है। एक प्रकार से यह केवल मुसलमानों का मुद्दा है। दूसरी ओर राजनीतिक मुद्दों के नाम पर 'आरक्षण' या Stop Mob Lynchings के दो ही नारे हैं। यह स्पष्ट रहे कि राजनीति किसी विशेष समुदाय के लिए नहीं अपितु पूरे समाज के लिए होती है। इसीलिए एक पार्टी के राजनैतिक एजेन्डे में समाज के सभी समुदायों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मुस्लिम नेताओं को विशेषतः केवल मुस्लिम मुद्दों तक ही सीमित रहने से बचना चाहिए क्योंकि पूरी मानव जाति का कल्याण ही इस्लाम धर्म की प्राथमिकता है। लेकिन आपका पहला कर्तव्य आपकी क़ौम के प्रति होता है, इसीलिए प्रभावी रूप से मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के सवाल के साथ राजनीति में सक्रिय होना एक अति पिछड़े मुस्लिम समुदाय के लिए बहुत ज़रूरी है।

मुस्लिम पार्टियों के एजेन्डे क्या हों?

इन परिस्थितियों में मुस्लिम पार्टियों को क्या एजेन्डे अपनाने चाहिए, इसपर गंभीर विमर्श किया जा सकता है और लम्बी योजना बनाई जा सकती है। उससे पहले दो महत्वपूर्ण एजेन्डे जिन पर मुस्लिम नेताओं को ध्यान देना चाहिए यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ :

1. एक वैकल्पिक फ्रंट का निर्माण

वर्तमान राजनीति के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम राजनैतिक पार्टियों का सबसे महत्वपूर्ण एजेन्डा यह होना चाहिए कि वे अपनी कट्टर मुस्लिम पहचान को ध्वस्त करके अधिकार और न्याय के लिए संघर्ष करने वाले अन्य राजनैतिक दलों को साथ लाकर संगठित करने की कोशिश करें। Joint Effort For Common Issues के नारे के साथ आगे बढ़ने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। इसके द्वारा अन्य राजनैतिक दलों को साथ लेकर साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार और अन्याय के विरुद्ध चल रहे संघर्ष को और मज़बूत किया जा सकता है। इस प्रकार एक सकारात्मक गठजोड़ बनाकर फ़ासीवादी ताक़तों को परास्त किया जा सकता है।

2. समावेशी विकास का मॉडल

मुस्लिम राजनीति का एक निम्नस्तरीय पक्ष यह है



कि यहाँ केवल मुसलमानों की आस्था से सम्बंधित मुद्दों पर ज़्यादा उठा–पटक होती है। भविष्य में देश और मुस्लिम समाज की उन्नति के लिए कोई योजना यहां नहीं बनाई जाती। यह व्यव्हार ख़त्म करना होगा। मुस्लिम पार्टियों के लिए ज़रूरी है कि वे अपने धार्मिक आस्था वाले मुद्दों से आगे बढ़कर समावेशी विकास (Inclusive Development) का मॉडल प्रस्तुत करें। एक ऐसा मॉडल जिसमें मुस्लिम समाज के असल मुद्दों के साथ समाज के सभी उपेक्षित और पिछड़े वर्गों की बात हो, जो मानव जीवन के सभी व्यक्तिगत और सामाजिक पहलुओं से बहस करता हो। एक ऐसा मॉडल जिसमें देश के हर आम आदमी की भागीदारी हो, जिसे हर नागरिक अपने हित में कल्याणकारी समझे। एक ऐसा मॉडल जो देश को सतत विकास और उन्नति की दिशा में तेज़ी से आगे ले चले।

(लेखक जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय के छात्र हैं।)



लोकसभा चुनाव 2019 और सोशल मीडिया

इनामुर्रहमान खान

मीडिया लोकतंत्र में राजनीतिक मुद्दों की आमजन तक सूचना पहुंचाने में और शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध खड़े होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। चुनावों के दौरान मीडिया राजनीतिक पार्टियों के कार्यक्रमों, नीतियों, उम्मीदवारों एवं उनके प्रदर्शन का विश्लेषण करता है और सूचना भी उपलब्ध कराता है। इलेक्ट्रॉनिक संचार ने चुनावी उम्मीदवारों के संचार क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है, मगर फिर भी शक्ति की दलाली और सूचना समाज में कोई सम्बन्ध नज़र नहीं आता। भारतीय परिप्रेक्ष्य में मीडिया एक सराहनीय भूमिका का निर्वाह कर रहा है। भारतीय राजनीति के पल–पल रंग बदलते समय में राजनेताओं ने युवा वर्ग एवं जनता तक पहुंचने के नव–पथ खोज लिये हैं।

भारतीय राजनीति ने समय के साथ–साथ विभिन्न परिवर्तनों का अनुभव किया है और वर्तमान में सहायक लोकतंत्रों व उनके प्रभावों के अध्ययन के लिए इसकी निर्भरता सोशल मीडिया पर अत्यधिक बढ़ चुकी है। विभिन्न सांस्कृतिक जटिलताओं वाले भारत में कुल जनसंख्या का 40% हिस्सा युवा होने के साथ–साथ लोकप्रिय संस्कृति के प्रभाव में भी है। भारतीय राजनीतिक दल अपने एजेंडे और राजनीतिक कार्यक्रमों की सूचना युवाओं तक पहुंचाने के लिए सोशल मीडिया का इस्तेमाल कर रहे हैं। 2014 के चुनावी रण की बात करें तो इस चुनाव में विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए सोशल मीडिया युद्ध क्षेत्र बना हुआ था, जिसमें विभिन्न राजनैतिक विचारों का भी समावेश था। 2014 के आम चुनावों के समय भारत में इंटरनेट इस्तेमाल करने वाले उपभोक्ताओं की संख्या 250 मिलियन थी, जबकि वर्तमान में यह आंकड़ा 560 मिलियन से अधिक पहुँच चुका है। 2014 के चुनावों में पाया गया था कि सोशल मीडिया पर सभी राजनीतिक दलों ने युवा मस्तिष्क का लाभ उठाया, फिर चाहे वे क्षेत्रीय चुनाव हों या फिर राज्य के चुनाव। पिछले लोकसभा चुनावों में राजनीतिक दलों ने सोशल मीडिया का इस्तेमाल एक चुनावी हथियार के रूप में किया था। इस बार भी पिछली बार की तरह यह चुनावी हथियार मारक सिद्ध हो सकता है। वर्तमान में 2019 का आमचुनाव हमारे सामने है। विश्व के बड़े लोकतंत्रों में शामिल भारत जहाँ 900 मिलियन पंजीकृत मतदाता 543 सांसदों के चुनाव के लिए अपना वोट देंगे। चुनाव की यह प्रक्रिया 11 अप्रैल 2019 से प्रारंभ होगी। जिसमे 272 से अधिक लोकसभा की सीटों पर विजयी होकर बहुमत पाने वाला राजनीतिक दल या सहयोगी दलों के समर्थन से सरकार बनायेगा।

रवि अग्रवाल (इंडिया कनेक्टेड नामक किताब के लेखक व सीएनएन के पूर्व भारतीय प्रमुख) कहते हैं कि "मतदाताओं को भ्रमित करने में सोशल मीडिया एक बड़े

प्रभाव के रूप में उभर सकता है। कौन विजयी होगा, कौन हारेगा, कौन जीतेगा, किसका पलड़ा भारी रहेगा का निर्णय करने वाले नागरिकों का एजेंडा एक तरीके से सोशल मीडिया तय कर रहा है। जबकि टीवी ने इससे पहले कभी ऐसा नही किया।"

राजनीतिक दल और सोशल मीडिया

भारतीय राजनीतिक दलों द्वारा 2018 में सोशल मीडिया पर चुनाव की तैयारी प्रारंभ कर दी गई थी, जिसमें फ़ेसबुक और व्हाट्सएप का इस्तेमाल करने वाले युवाओं पर विशेष ध्यान दिया गया था। पिछले एक साल में हमने देखा कि राजनीतिक दलों, विशेषकर पुराने राजनीतिक दलों ने मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए विभिन्न चालें चली हैं। हालांकि सोशल मीडिया का चुनावी प्रयोग कोई नया नहीं है मगर फिर भी सोशल मीडिया पर राजनीतिक प्रभुत्व पिछले कुछ सालों में बढ़ा है। विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा विपक्षी दल के नेताओं के कार्टून या फिर मज़ाक बनाकर उन्हें फ़ेसबुक, इंस्टाग्राम, व्हाट्सएप पर छुपते–छुपाते भेजना भी इसी का एक हिस्सा रहा है। 2014 के चुनाव में सोशल मीडिया की शक्ति से विजय पाने वाली बीजेपी का एक मात्र ध्येय स्मार्टफोन्स का इस्तेमाल करने वाले मतदाताओं पर लक्ष्य साधना है। नौ लाख से अधिक संख्या वाले स्वयंसेवकों का दल जो भाजपा शासन की उपलब्धियों एवं प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की गतिविधियों के प्रचार–प्रसार हेतु व्हाट्सएप ग्रुप्स का प्रयोग कर रहे हैं, जिनमें पड़ोसी देशों के लोगों की भी उपस्थिति है। इसी बीच विपक्षी पार्टी कांग्रेस ने 'डिजिटल साथी' ऐप लॉन्च कर विभिन्न प्रकार के डिजिटल प्रचारों के लिए स्वयंसेवकों की नियुक्ति कर नया कार्ड खेला है।



डिजिटल पॉलिटिक्स और आमजन के बीच के संबंधों का अध्ययन मतदाताओं हेतु आवश्यक है। मतदाताओं को प्रभावित करने हेतु मैसेजिंग ऐप का सहारा लिया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई नेता चुनावी प्रचार में लोगों को रैली, भाषणों और पर्चों के माध्यम से प्रभावित करता है।

प्रतीक सिन्हा (ऑल्ट न्यूज़ के संस्थापक) के अनुसार "जैसे–जैसे चुनाव नज़दीक आता है चुनावी प्रक्रिया जटिल रूप धारण कर लेती है, जिसके कारण जान और माल की क्षति भी होती है।" प्रतीक आगे कहते हैं कि "चुनाव की गहमागहमी में किसी प्रकार की ग़लत सूचना हिंसा भड़काने में सहायक सिद्ध हो सकती है।"

सोशल मीडिया पर झूठी ख़बरों का चुनाव पर प्रभाव

झूठी ख़बरें फैलाने और ग़लत सूचनाओं के प्रसार में सोशल मीडिया का बढ़ता इस्तेमाल चिंतनीय है। भारत में दंगों से लेकर मॉब लिंचिंग की घटनाओं तक के पीछे झूठी सूचनाएं और फ़र्ज़ी वीडियोज़ इत्यादि मुख्य नायक के रूप में निकल कर सामने आए हैं। राजनीतिक दल लगातार अपनी राजनीतिक साख बचाने हेतु एक–दूसरे पर झूठी सूचनाएं फैलाने का आरोप लगाते रहे हैं। ऐसे में व्हाट्सएप ने समाचार पत्रों में विज्ञापन देकर और कार्यशालाओं का आयोजन कर फ़ेक न्यूज़ की रफ़्तार को धीमा करने की दिशा में सकारात्मक क़दम उठाये हैं। किंतु अभी भी व्हाट्सएप समूहों के अंतर्गत होने वाली गतिविधियां संदेह के घेरे में है।

सोशल मीडिया पर एक बड़ी समस्या यह भी है कि वहां पर लिखी जाने वाली सूचनाओं की ज़िम्मेदारी लेने वाला अनुपस्थित होता है। हज़ारों या हज़ारों से अधिक सोशल मीडिया खाते आधिकारिक रूप से किसी भी राजनीतिक दल से ना जुड़े होने के बाद भी विशेष समर्थित सूचनाएं उन खातों से आ–जा रही हैं।"

भारत में व्हाट्सएप पर चुनाव

250 मिलियन से अधिक भारतीयों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाला व्हाट्सएप भारत में एक बड़ी पहुंच वाला माध्यम है। साथ ही व्हाट्सएप को झूठी ख़बरों और ग़लत सूचनाओं का बड़ा भंडार भी माना जाता है। लेकिन व्हाट्सएप की भारत में बढ़ती लोकप्रियता और प्रचलन चुनाव को भी प्रभावित कर सकता है। भारत में हुए राज्य स्तरीय चुनावों और ब्राज़ील के चुनावों को प्रभावित करने वाले घटक के रुप में भी व्हाट्सएप का नाम लिया गया है। क्योंकि

व्हाट्सएप द्वारा मतदाताओं तक भ्रामक जानकारी आसानी से पहुंचा दी जाती है।

रिपोर्टों के अनुसार ब्राज़ील चुनावों में भी मतदाताओं को धड़ों में विभाजित करने के लिए व्हाट्सएप का प्रयोग किया गया था। दक्षिणपंथी नेता ज़ेर बालसानारो को ब्राज़ील में सोशल मीडिया पर झूठी सूचना फैलाने के आरोप में जीतने के बाद भी प्रतिबंधित कर दिया गया था।

भारत में 2019 के आम चुनावों में एकमत से व्हाट्सएप इलेक्शन होने की आशंका जताई जा रही है। इंटरनेट सेवाओं में दिन–प्रतिदिन होती विकास वृद्धि व स्मार्टफोनों की बढ़ती संख्या के फलस्वरुप व्हाट्सएप का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या 200 मिलियन से अधिक हो गई है। यह संख्या किसी भी लोकतंत्र में उपस्थित व्हाट्सएप उपयोगकर्ताओं में सर्वाधिक है। इसलिए सभी राजनीतिक दल इस संख्या बल को भुनाने की हर संभव कोशिश कर रहे हैं। व्हाट्सएप से निकले फ़ेक न्यूज़ के जिन्न की वजह से पूर्व में भी भारत में हिंसा भड़की है जो भविष्य में लोकतांत्रिक प्रक्रिया के लिए बड़ा सिरदर्द साबित हो सकता है भारतीय राजनीति में व्हाट्सएप की भूमिका को सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिक विमर्श के संदर्भ में समझने की आवश्यकता



है। व्हाट्सएप भारतीय जनमानस एवं परिवेश में विद्वेष के लिए उत्प्रेरक बन सकता है। उदाहरण के तौर पर अफ़वाहें भड़काने में सहायक व्हाट्सएप एकता के विखंडन के लिए भी उत्तरदायी हो सकता है। इसी प्रकार धार्मिक उन्माद को बढ़ाने वाले संदेश, जाति एवं लिंग आधारित भेदभाव के संदेश सामाजिक ढांचे को नुक़सान पहुंचाने के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं।

सोशल मीडिया : युवाओं का हृदय मार्ग

यह एक प्रत्यक्ष सत्य है कि वर्तमान पीढ़ी के युवाओं को राजनीतिक एवं वैचारिक क्षेत्र में उन्नत माना जाता है। सोशल मीडिया एक प्रकार से ऐसा विशाल मैदान बन गया है जहां पर विभिन्न स्वर एवं विचार एकत्रित होते हैं। इस मैदान में मतदाताओं के साथ–साथ राजनेताओं की रैलियां, पोस्टर, कट आउट्स और भित्ति चित्र लिए उड़ती फिरती रही हैं लेकिन मतदाताओं के डिजिटल रूप से समृद्ध होने के कारण भारत का राजनैतिक परिदृश्य बदला जा चुका है।

विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षणों और रिपोर्टों के अध्ययन के बाद पता चलता है कि 2014 के चुनाव के बाद प्रत्येक उम्मीदवार के कुल बजट का 2.5% दूसरा हिस्सा ही सोशल मीडिया पर प्रचार हेतु ख़र्च किया जा सकता है। यह सीमा प्रमुख राष्ट्रीय दलों हेतु 400 से 500 करोड़ रुपए तक है। सोशल मीडिया को संचार के क्षेत्र में ऑल राउंडर माना माना जाने लगा है। सोशल मीडिया आधुनिक लोकतंत्र में हिस्सेदारी और लाभ के सुनिश्चितिकरण में सफ़ल रहा है। वर्तमान राजनीतिक दलों ने सोशल मीडिया का इस्तेमाल अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने और जनसमर्थन की प्राप्ति के लिये किया है। राजनैतिक दलों ने भी मायावी दुनिया से खुद को जोड़ दिया है जिसके पीछे राजनीतिक बदलाव, स्थायित्व और विभिन्न स्रोतों की सहायता सम्मिलित है।

सोशल मीडिया वर्तमान में राजनीतिक दलों का जनता से संबंध सुधारने पर ज़ोर दे रहा है। सोशल मीडिया एक ऐसे माध्यम के रूप में उभरा है जो सामाजिक ताने–बाने को परीक्षा की दृष्टि से देखता है। समय की सीमा समाप्ति वाले इस समय में नए मीडिया को चाहिए कि वह चुनाव प्रक्रिया के दौरान संसदीय चुनाव 2014 के दिशानिर्देश ध्यान में रखें।

निष्कर्ष

सोशल मीडिया का राजनीतिक प्रक्रिया में प्रयोग लोगों की राजनीतिक समझ, राजनीतिक ज्ञान और भागीदारी को प्रभावित करता है। सोशल मीडिया पर उपस्थित लोग राजनीतिक प्रक्रिया में सम्मिलित होकर अपनी राजनीतिक समझ और भागीदारी में वृद्धि करने में सक्षम होते हैं। मीडिया का राजनीतिक रूप से अधिक प्रयोग सोशल मीडिया के सुचारू संचालन को प्रभावित करता है। जितना अधिक सोशल मीडिया का प्रयोग किया जाता है उतना ही सोशल मीडिया राजनीतिक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं हेतु प्रयुक्त किया जाता है।



सोशल मीडिया कैंपेन और लोकसभा चुनाव

सहीफ़ा खान

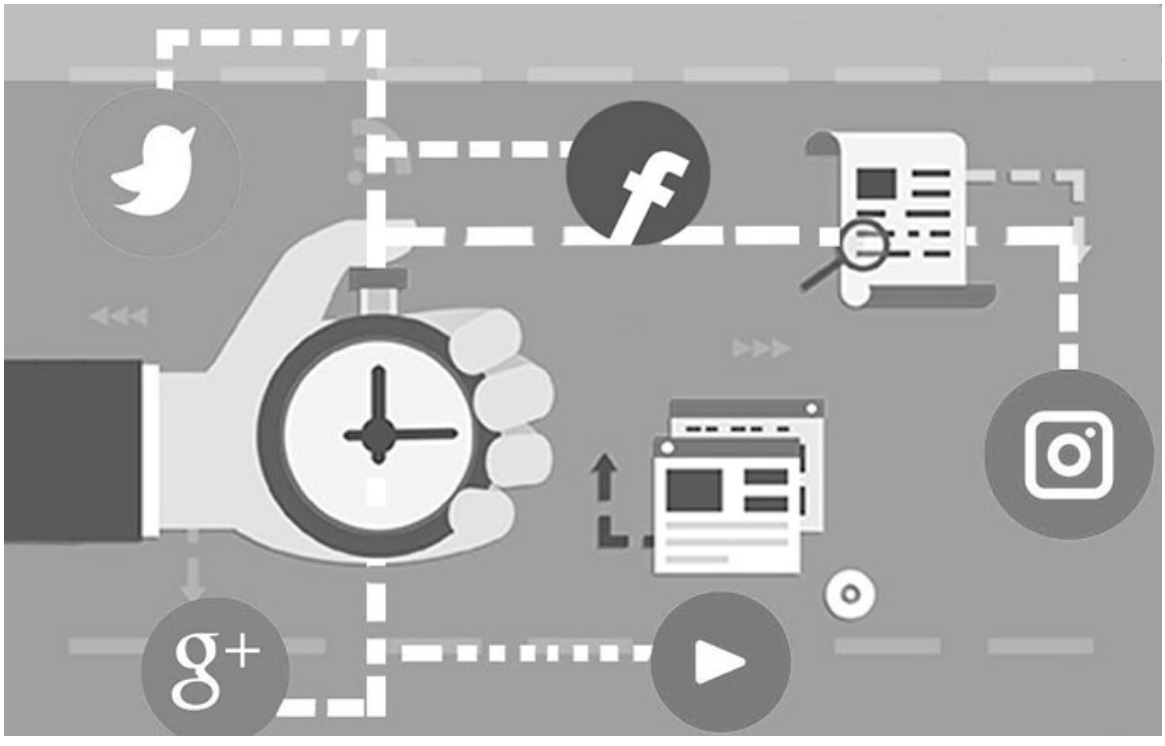
चुनावों के इस मौसम में ज़रा पीछे जाइए और 2014 के लोकसभा चुनावों को याद करिए। उस समय भारतीय जनता पार्टी का नारा था 'अच्छे दिन आने वाले हैं'। यह नारा उस समय इतना प्रसिद्ध हुआ कि बच्चे–बच्चे की ज़ुबां पर चढ़ गया था। लोगों को इस नारे ने प्रभावित भी किया और देश में यूपीए सरकार से त्रस्त जनता ने परिवर्तन की उम्मीद लगाकर लोकतंत्र के उत्सव में मोदी लहर बरपा कर दी। परिणामस्वरुप नरेंद्र मोदी की अगुवाई में भारतीय जनता पार्टी ने पूर्ण बहुमत से सरकार बना ली। इसके बाद लगातार पूरे कार्यकाल में बीजेपी और मोदी सरकार की तरफ़ से यही दावा किया जाता रहा कि विकास के रथ पर सवार होकर मोदी सरकार ने देश को ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया है।

अगर बीजेपी के दावों में सच्चाई थी तो इस बार बीजेपी का नारा होना चाहिए था 'अच्छे दिन आ गए', लेकिन पता नहीं क्यों उनके रचनात्मक लेखकों को यह ख़्याल नहीं आया और चुनावों की घोषणा से पूर्व स्लोगन बना 'मोदी है तो मुमकिन है', जो कि जनता को बिल्कुल भी लुभा नहीं सका। इसके बाद राफेल डील को लेकर राहुल गांधी ने जैसे ही प्रधानमंत्री पर आरोप लगाया कि 'चौकीदार चोर है', बस कुछ रचनात्मक ढूंढ रही बीजेपी को पीएम मोदी का पुराना जुमला याद आ गया और इस प्रकार नया आइडिया मिल गया। उसके बाद मोदी ने अपने ट्विटर हैंडल से घोषित कर दिया 'मैं चौकीदार हूं' और फिर देखते ही देखते यह शब्द ऐसा प्रचलित हुआ कि देश में अपने को चौकीदार घोषित करने वालों की लाइन लग गयी। ट्विटर पर लोग अपने नाम के आगे चौकीदार लिखने लग गए।

नरेंद्र मोदी ने अपने आपको चौकीदार क्यों घोषित किया, यह तो वही जानें, लेकिन वह चौकीदारी के वास्तविक धरातल से कभी रुबरु हुए हैं, ऐसा मुमकिन नहीं लगता। क्योंकि अगर उनकी सरकार ने ध्यान दिया होता तो स्वयं उन्हें चौकीदार बनने की ज़रुरत ही नहीं पड़ती। इकोनॉमिक टाइम्स की 2018 की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश में सिपाहियों के 5 लाख पद ख़ाली हैं जिसमें अकेले उत्तर प्रदेश में यूपी पुलिस के 1 लाख 80 हज़ार पद ख़ाली हैं। यानी यूपी की पूरी पुलिस फ़ोर्स में से आधे पद ख़ाली हैं। अगर केंद्र सरकार ने ये भर्तियां कर दी होतीं तो देश में 5 लाख युवा खड़े होते यह कहने के लिए कि 'मोदी जी आप पीएम की कुर्सी संभालिए क्योंकि देश की सुरक्षा करने के लिए चौकीदार मौजूद हैं।' नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार 2014 में देश में 4,40,915 चोरी के मामले दर्ज हुए थे जो कि 2015 में बढ़कर 4,67,833 हो गए और 2016 में 4,94,404 का आंकड़ा पार कर गए। यदि पुलिस के पास पर्याप्त लोग होते तो इन आंकड़ों पर नियंत्रण लगा कर देश के युवा सिपाही हाथों में रोज़गार लिए बड़े गर्व से कहते 'मैं भी चौकीदार'।

अगर आंकड़ों पर नज़र दौड़ाई जाए तो भारत की मौजूदा विकास दर 7.5 प्रति वर्ष है। हाल ही में जाने–माने अर्थशास्त्री और रिज़र्व बैंक के पूर्व गवर्नर रघुराम राजन ने भारत की विकास दर को लेकर शंका ज़ाहिर की है। उन्होंने कहा कि देश में जब रोज़गार पैदा नहीं हो रहा तो विकास दर 7.5 की दर से कैसे बढ़ रही है? उनका मानना है कि विकास दर के आंकड़ों को सही रुप से जांचने के लिए एक समिति बनाई जानी चाहिए। दूसरी बात यह है कि जब यूपीए सरकार में जीडीपी 8 से 9 प्रतिशत थी तब उसे जॉबलेस ग्रोथ क्यों कहा जाता था? वहीं अरुण जेटली 7.5 प्रतिशत विकास दर से कैसे यह मतलब निकाल सकते हैं कि ग्रोथ हो रही है तो रोज़गार भी बढ़ गया? सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकोनॉमी के महेश व्यास ने बिज़नेस स्टैंडर्ड में लिखा है कि दिसंबर 2018 में बेरोज़गारी की दर 7.4 प्रतिशत से बढ़कर 7.8 प्रतिशत हो गई है। महेश व्यास ने बताया कि दिसंबर 2017 में जितने लोगों के पास काम था उसमें से एक करोड़ दस लाख लोग दिसंबर 2018 तक बेरोज़गार हो गए। नए लोगों को काम नहीं मिला और जिनके पास काम था उनकी भी नौकरी चली गई। उनका दावा है कि एक लाख चालीस हज़ार सैंपल सर्वे करने के बाद उनका यह तत्कालिक निष्कर्ष है। अंतिम रिपोर्ट कुछ महीनों बाद आएगी। सैंपल तो काफ़ी बड़ा है, अगर इस हिसाब से देखा जाए तो क्या यह स्थिति भयावह नहीं है?

अल–जज़ीरा चैनल के एंकर मेंहदी हसन ने अपने एक शो में मशहूर लेखिका और बुकर पुरस्कार विजेता अरुंधति रॉय से जब पूछा कि उन लोगों के बारे में आप क्या कहेंगी जो मोदी को भारत का डोनाल्ड ट्रंप कहते हैं? उन्होंने जवाब दिया कि "मुझे नहीं लगता कि



यह एक सही तुलना है। डोनाल्ड ट्रंप एक तंत्र के गड़बड़ा जाने से जन्में हैं जबकि भारतीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी एक तंत्र हैं जो कि आरएसएस के गठन के बाद से लगातार चल रहा है, जिसे इस लोकतंत्र के सारे संस्थान सहारा देते हैं। प्रेस उन्हें सहारा देती है, न्यायपालिका उन्हें सहारा देती है, खुफ़िया तंत्र उन्हें सहारा देता है, सेना उन्हें सहारा देती है। डोनाल्ड ट्रंप केवल डोनाल्ड ट्रंप हैं जबकि मोदी एक पूरा तंत्र है जो कि आधुनिक भारतीय इतिहास को ताक पर रखकर लगातार आ रहा है। मुझे लगता है कि हमें इस दौर से गुज़रना ही था। मैं केवल यही उम्मीद कर सकती हूं जब तक हम इससे निकलें हमें उसकी बहुंत ऊंची क़ीमत ना चुकानी पड़े।"

सोशल मीडिया पर चल रही कैंपेन, राजनीतिक पार्टियों के दिलकश स्लोगन एवं मैनिफेस्टो, नेताओं के ब्रेन वॉश करने वाले भाषणों के बीच आपको स्वंय को बहकावे में बहक जाने से रोकना होगा। नेताओं की राजनीतिक कुंडली सहित पार्टियों के इतिहास पर भी मंथन करना होगा। तभी देश को विकास के पथ पर अग्रसर करने में आप महत्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे और हमारा लोकतांत्रिक शासन तानाशाही में बदलने से बच जाएगा। साथ ही हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए देश की गौरवशाली संस्कृति सुरक्षित रह सकेगी।



लोकसभा चुनाव 2019 से क्या हैं भारतीय युवाओं की आकांक्षाएं?

नूरा सलाम

भारत में 17वें आम लोकसभा चुनावों की तारीखों का ऐलान हो गया है, जो विभिन्न चरणों में 11 अप्रैल से शुरू होकर 19 मई 2019 तक चलेंगे। भारतीय जनता सोच रही है कि 23 मई को आने वाले चुनावी परिणाम कैसे होंगे और भावी सत्ता में आने वाले दल अपने लुभावने वादे कहाँ तक निभा पायेंगे! साथ ही सत्ता में आने वाली भावी सरकार से पूरे देश को बहुत उम्मीदें हैं।

किसी भी राष्ट्र की शक्ति और भविष्य का भावी नेता कहा जाने वाला देश का युवा वर्ग आगामी सरकार से बहुत सी आशाएं लगा कर बैठा है। वे आशा कर रहे हैं कि उनके स्वर्णिम भविष्य निर्माण हेतु नेता उन्हें अवसर मिलेंगे। इस सिलसिले में युवाओं की राय जानें तो पता लगता है कि वे आगामी सरकार को पिछली सरकार से बेहतर देखने के इच्छुक हैं।

पिछले चुनावों के दौरान निवर्तमान सरकार ने कहा था कि युवाओं को रोज़गार के 2 करोड़ अवसर प्रदान किये जायेंगे लेकिन आधिकारिक आंकड़ों की बात करें तो साल 2017–18 में बेरोज़गारी दर में 45 सालों के इतिहास में पहली बार 6.1 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। बेरोज़गारी दर में यह 1972–73 से अब तक की सबसे बड़ी वृद्धि है। जहाँ यूपीए सरकार में बेरोज़गारी दर में वृद्धि 2.2% दर्ज की गयी थी वहीं एनडीए सरकार में ये आंकड़ा उससे अधिक रहा है। मोदी सरकार द्वारा किये गए नौकरी के लुभावने वादे पर विश्वास करने वाले अधिकतर युवाओं को अपना भविष्य अन्धकार में जाता दिखाई दे रहा है और चुनावी वादों के मायाजाल में उनका दोबारा फंसना ज़रा कठिन लगता है। सुरक्षित और उच्च स्तरीय नौकरी पाने की टूटी उम्मीदों से इतर हम बात करें तो पिछले 4 सालों में अधिकतर युवा नौकरी छोड़ कर लघु स्तरीय उद्योगों में इसीलिए जुटे हैं कि उनको उनकी शैक्षणिक योग्यता के अनुसार नौकरी नहीं मिल पाई। इसके पीछे करों में बड़ी वृद्धि भी प्रमुख कारण है। पहले 150 रूपये प्रतिदिन के खर्च वाले परिवार को अब इसके दोगुने खर्च में परिवार का भरण पोषण मुश्किल नज़र आ रहा है। बेरोज़गारी की दर शिक्षित वर्ग में भी तेज़ी से बढ़ी है। आम तौर पर देखा गया है कि शिक्षित वर्ग को एक स्थायी रोज़गार मिल जाता है। 2017–18 में ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित महिलाओं की बेरोज़गारी दर में 17.3% की वृद्धि दर्ज की गयी है, जबकि वर्ष 2004–05 और 2011–12 में यह दर क्रमशः 9.7% और 15.2% रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित पुरुष वर्ग की बात करें तो उनमें यह आंकड़ा 2004–05 के मध्य 3.5% से लेकर 4.4% रहा था, जो 2017–18 में बढ़कर 10.5% तक पहुँच गया। नर्सिंग और

इंजीनियरिंग की शैक्षिक योग्यता रखने वाले लोग भी अभी तक बेरोज़गार नज़र आ रहे हैं। सरकारी क्षेत्रों में अभी भी बहुत सी सरकारी नौकरियों के अवसर और ख़ाली पद मौजूद हैं किंतु सरकार उन पदों को भरने में असमर्थ है क्योंकि उनके पास वेतन देने के लिए पर्याप्त स्त्रोत नहीं है। इसीलिए बहुत सारे पद अभी भी रिक्त हैं जो युवाओं में बेरोज़गारी को बढ़ावा दे रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी आने वाली सरकार से युवाओं को बहुत–सी उम्मीदें हैं जिनमें शिक्षा के मौलिक अधिकारों को ज़मीनी स्तर तक पहुँचाना भी है। देश में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि बहुत से प्रतिभाशाली और तकनीकी रूप से समृद्ध युवाओं को अपनी योग्यताओं के अनुसार रोज़गार नहीं मिल पाया। उन्हें परिवार के भरण पोषण के लिए कोई अन्य रास्ता नहीं मिला और वे परिस्थितिवश जो मिला उसी रोज़गार में लग गए। आर्थिक रूप से कमज़ोर परिवारों से आने वाले युवा



अपने परिवार के पालन पोषण हेतु किसी भी रोज़गार में लग जाते हैं। उनके नवीन चीज़ों को सीखने के सपने और मनमाफ़िक रोज़गार पाने के सपने महज़ सपने ही रह जाते हैं। आइसा की राष्ट्रीय अध्यक्ष सुचेता दे कहती हैं कि "आगामी सरकार निर्धन वर्गों से आने वाले छात्रों को उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए अधिक ख़र्च करेगी।" साथ ही उनका मानना है कि आने वाली सरकार नए विश्वविद्यालय बनाकर छात्रों को उच्च शिक्षा हेतु अवसर प्रदान करेगी।

केवल नौकरी के लिए पढ़ने वाले सिद्धांत से इतर भारतीय युवा शिक्षा व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन का पक्षधर है। शिक्षा को अधिक व्यवहारिक बनाना और इससे औद्योगीकरण का हटाना, छात्रों को अपनी प्रतिभा को धारदार बनाने में सहायक सिद्ध होगा। मार्केटिंग कम्युनिकेशन की छात्रा शायका जन्नत अहमद के अनुसार "अगले प्रधानमंत्री शिक्षित हों, जिससे वह शिक्षा को लेकर व्यापक परिदृश्य में विचार करें और शिक्षा जगत के क्षितिज के पार देखने में सक्षम हों।"

योग्य और अनुभवी शिक्षकों की भर्ती साक्षरता दर को बढ़ाने और छात्रों में नयी ऊर्जा का संचार करेगी। स्कूल और कॉलेजों में मिलने वाली सुविधाएं छात्रों के शैक्षणिक परिवेश और सीखने को प्रभावित करती हैं। विश्वविद्यालयों में शोध शालाओं की कमी शिक्षा के क्षेत्र में सबसे बड़ी समस्या के रूप में उभरती है। इसे एक आवश्यक मुद्दे के तौर पर लिया जाना चाहिए जिससे भारत भी विकसित देशों के पदचिन्हों पर चल सके।

आने वाली सरकार से लगाई जाने वाली उम्मीदों में से विश्विद्यालयों में 'सांस्थानिक हत्या' और 'गायब कर देना' अहम मुद्दे हैं। रोहित वेमुला और नजीब अहमद के अतिरिक्त बहुत सारे मामलों में उत्पीड़न और भेदभाव मुख्य घटक रहा है, जिस ओर ध्यान दिए जाने की ज़रुरत है। जेएनयू स्टूडेंट यूनियन के अध्यक्ष एन साईं बालाजी कहते हैं कि "सरकारी जांचकर्मियों के पास निरर्थक मामलों में जांच करने का समय है किंतु नजीब को खोजने का नहीं।" बालाजी आगे कहते हैं कि "मोदी जी कहते हैं कि वह युवाओं के लिए तत्पर रहे हैं किंतु उन्होंने पिछले साढ़े चार सालों में कुछ भी नहीं किया। दलित और अन्य पिछड़े वर्गों के छात्रों को कक्षाओं में स्थान पाना मुश्किल हो गया है।"

देश के युवा वर्ग की निगाहें 2019 के चुनावों के बाद होने वाली क्रान्ति की आशा पर लगी हुई है। आज के समय में युवाओं को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उनमें शैक्षणिक योग्यता के अनुसार नौकरी का न मिलना महत्वपूर्ण है। आश्चर्यजनक रूप से युवा वर्ग केवल पैसा कमाने तक ही सीमित नहीं है बल्कि वो चाहता है कि भारत देश में प्रतिभाओं का सम्मान किया जाये तथा उन्हें शोध, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के नव अवसर प्रदान किये जाएं।

हम परेशान हैं कि सच को कौन उजागर करेगा?

अनिल चमड़िया

प्रेस का स्वरूप पिछले दशकों में लगातार बदलता गया है। नई–नई टेक्नोलॉजी इस मैदान में आती गई, हर–एक का अपना नया नाम होता गया। लेकिन सबका काम या उद्देश्य एक ही था, वह था उनका एक माध्यम होना। इसीलिए इनको माध्यम अर्थात् मीडिया के नाम से पुकारा गया। मीडिया हमारे युग का एक बड़ा सच है। दूसरा हमारा विषय है – आज़ादी। और ये दोनों शब्द ही हमारे आज के विषय हैं यानि मीडिया की आज़ादी।

सर्वप्रथम इसको समझना ज़रूरी है कि आख़िर मीडिया का उदय क्यों हुआ? इसकी हमें क्या आवश्यकता थी? और जब इसकी स्वतंत्रता का प्रश्न उठा तो क्या वह एक क्षेत्र विशेष में उठा? किसी विशेष देश, राज्य, नगर या मोहल्ला में यह सवाल उठा? ऐसा नहीं हुआ। जब मीडिया का उदय हुआ तो इसकी स्वतंत्रता का मामला पूरी दुनिया में उठा। लोगों ने अपने मन मस्तिष्क में एक संस्था का निर्माण किया। चूँकि इस संस्था का सीधा सम्बन्ध मानव मस्तिष्क से है इसलिए पत्रकारिता और मीडिया की स्वतंत्रता की संस्था का स्वरूप एक वैश्विक स्वरूप है।

हमारे देश में लगभग एक लाख से ज़्यादा पत्र–पत्रिकाएं पंजीकृत हैं। लेकिन जब आम नागरिक मीडिया शब्द का प्रयोग करता है तो उसके पास पहुँचने वाले समाचार पत्र और चैनलों के बारे में ही वह बात करता है। लेकिन वास्तव में मीडिया है क्या? भारत में जब हम मीडिया की स्वतंत्रता की बात करते हैं तो उससे पूर्व हमें मीडिया की अवधारणा को समझना बेहद ज़रूरी है। हम जिस व्यवस्था में रहते हैं वहां एक संविधान भी है। जब भारत की जनता ब्रिटिश राज के बाद नागरिक बनने की प्रक्रिया में आई तो उन्होंने एक समझौता तैयार किया जो हमें नागरिकता प्रदान करता है, कुछ अधिकार और दायित्व सौंपता है। इसी संविधान में हमने अभिव्यक्ति की आज़ादी (फ्रीडम ऑफ़ एक्सप्रेशन) को एक अधिकार के तौर पर परिचित कराया जो देश के नागरिकों के लिए था, और यह अधिकार विशेषतः नागरिको से ही संबंधित है, मीडिया या पत्रकारिता नहीं लिखा गया है, बल्कि देश का नागरिक इस अधिकार का भोगी होता है, और इसका इस्तेमाल कर एक नागरिक पत्रकार बनता है और खुद को इस जगह वह स्वयं ही नियुक्त करता है।

आज भारत में मीडिया का मतलब कुछ विशेष चैनल और समाचार पत्र बन गए हैं। वे जो लिखते हैं, कहते हैं, वही सत्य होता है या माना जाता है। उनका लिखा और कहा गया ही पूरे मीडिया की आवाज़ समझी जाती है, और स्वतंत्रता भी उतनी ही जितनी वह परिभाषित करता है। कुछ चुनिन्दा दस–बीस घरानों ने अपने लिए स्वतंत्रता के अपने पैमाने बना लिए हैं। एक तथ्य है कि जो दबंग होता है, वह अपनी दबंगई बनाए रखना चाहता है जबकि जो शोषित होता है उसका उद्देश्य केवल पीड़ा से मुक्ति होती है। आज के सन्दर्भ में अगर हम देखें तो क्या आज मीडिया अपना सही दायित्व अदा कर रहा है या कुछ और? जबकि मीडिया में एक पत्रकार ने अपने आपको लोगों की आवाज़ का प्रतिनिधित्व करने लिए नियुक्त किया था। लेकिन अब जबकि उसे जनता के लिए पक्षपाती होना चाहिए था वह





किसी और का पक्ष लिए चल रहा है। जबकि जिस संविधान का हम आदर करते हैं वह हमें समानता और सामाजिक न्याय का पथ सिखाता है। ऐसे लोगों की स्वतंत्रता की बात करता है जो सालों से दबे–कुचले हैं।

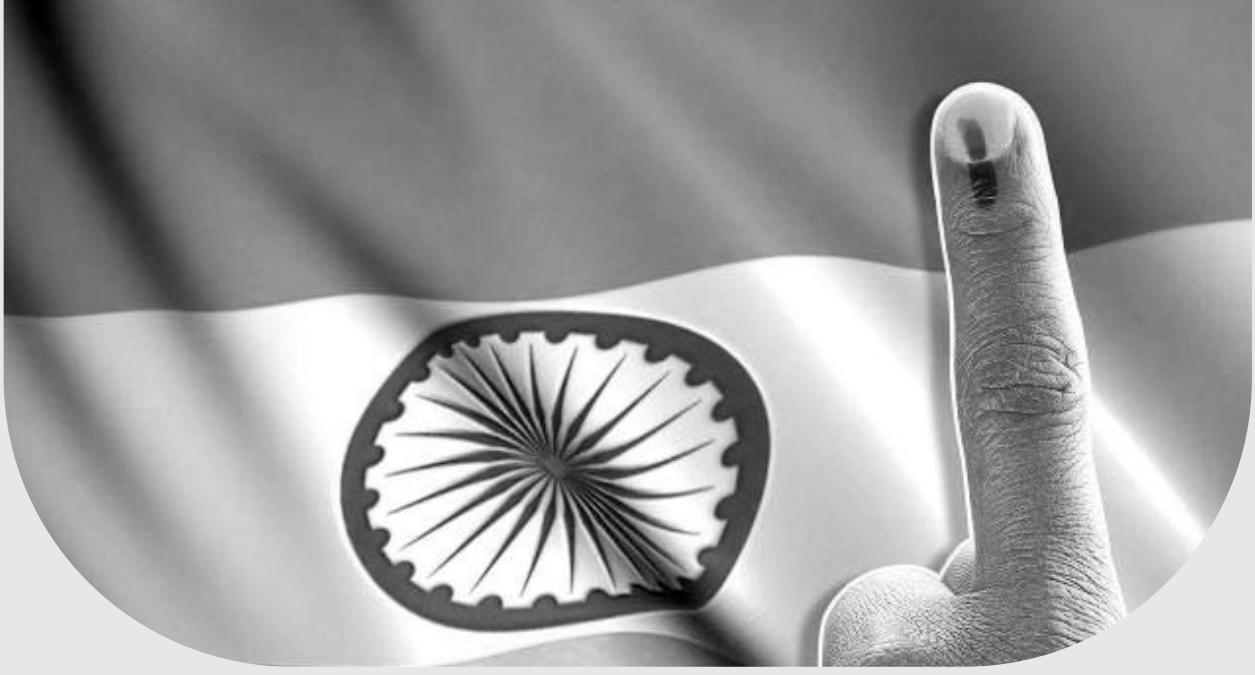
अगर हम मीडिया की आज़ादी को परिभाषित करना चाहें तो इस देश की अवाम की स्वतंत्रता और उसकी अपेक्षाओं की स्वतंत्रता ही मीडिया की स्वतंत्रता है।

आज के दौर में जो स्थापित मीडिया संस्थान हैं, वे वास्तव में क्या कर रहें हैं? इसे भी बारीकी से समझने की आवश्यकता है। जैसे सरकार की कोई ख़बर आती है तो मीडिया उसकी जानकारी पूरी व्याख्या के साथ जनता के सामने रखता है, लेकिन आज मीडिया इसी सूचना को एक पक्षपाती व्याख्या के साथ पेश करता है जो पूरी तरह सरकार के पक्ष में होती है। किसी दृष्टि विशेष से की गई व्याख्या को समझना बहुत महत्वपूर्ण है।

एक उदाहरण से समझिए जैसे देश का उच्च न्यायालय वही है, देश के क़ानून का बड़ा हिस्सा अभी भी वही है, जो पहले था, लेकिन व्याख्याएँ कैसे बदल दी गईं। बी आर कृष्ण अय्यर एक जज थे। उन्होंने नौकरी करने के अधिकार की व्याख्या जनता के पक्ष में खड़े होकर की लेकिन आज लोग नौकरी के अधिकार की व्याख्या बड़ी बड़ी कंपनियों के पक्ष में कर रहे हैं। एक ही प्रावधान की अलग–अलग व्याख्याएँ आप देख सकते हैं। एक ही देश के लोग किसी चीज़ की व्याख्या कैसे बदल देते हैं, देख सकते हैं। हमारे समाज में वही नेतृत्व करता है जो व्याख्या करने की ताक़त रखता है। वही समाज संचालित करता है। आम नागरिक किसी चीज़ की व्याख्या नहीं कर पाता है।

पहले मीडिया जनता के लिए था लेकिन अब जनता मीडिया के लिए बन गई है। हर मीडिया संस्थान अपनी जनता चुनता है और तय करता है कि उसके मुद्दे क्या होंगे, उसकी चर्चाएं किन विषयों पर होंगी, उनका स्वरूप क्या है। इन सब में जो हक़ीक़त और सत्य है, वह कहीं खो जाता है। एक पत्रकार प्रण लेता है कि वह लोगों का सच सबके सामने लाएगा, लेकिन आज हम परेशान हैं कि सच को कौन उजागर करेगा? सच सामने नहीं आने की पीड़ा हम झेल रहे हैं। आज कोई मीडिया पत्रकार ग़रीब नहीं होता। पहले ऐसा भी होता था कि कई पत्रकार ग़रीबी में अपना जीवन काटते थे, लेकिन आज सूरत कुछ और है। आज एक पत्रकार की तनख्वाह और कमाई बढ़ती ही जा रही है। मीडिया संस्थान और महंगे होते जा रहे हैं। हमें इन सब मामलों पर गहन सोच विचार करने की आवश्यकता है।

(लेखक मीडिया स्टडीज़ ग्रुप के चेयरमैन व मासिक शोध पत्रिका जन मीडिया के संपादक हैं।)



मेरा वोट मेरा घोषणापत्र



देश में आम चुनाव का वातावरण है और विभिन्न राजनीतिक दल अपने स्तर पर आगामी चुनावों में जनता को रिझाने के लिए एक बार फिर लंबे–चौड़े वादों तथा आशाओं के "घोषणापत्र" के साथ मैदान में हैं। किन्तु प्रायः इन सभी राजनीतिक दलों के घोषणा पत्रों में शिक्षा एवं छात्र पीछे छूट जाते हैं। वरीयता क्रमांक में भी यह विभाग नीचे ही होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में छात्र विमर्श ने निर्णय किया कि शिक्षा की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य में सुधार के मुद्दे को सामने रखते हुए छात्रों के बीच एक संवाद स्थापित करेगी। छात्रों की राय को अपने विशेषांक '**शिक्षा विमर्श**' में '**मेरा वोट मेरा घोषणापत्र**' के रूप में प्रकाशित करेगी –

इस सम्बन्ध में जिन छात्रों ने हमें अपने विचार भेजे, पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं –

जुमलों की सरकार नहीं चाहिए

बिलाल नदीम

(छात्र, जामिया मिल्लिया इस्लामिया)

जब हम 2014 के लोकसभा चुनाव को देखते हैं तो बड़ी–बड़ी रैलियां दिखाई देती हैं, कानों में बहुत सारे जुमले और वादे सुनाई देते हैं, कहीं कुछ वादे तो कहीं कुछ! वादे, जो हमारी मौजूदा सरकार ने देश के अलग–अलग कोनों से किये थे, ये वो वादे हैं जिनके दम पर सरकार बन तो गई लेकिन कितने निभाये गए ये वादे? आइए देखते हैं मौजूदा सरकार ने किस–किस से और क्या–क्या वादे किए?



वादे सभी से किये गये, चाहे किसान हों, युवा हों, व्यापारी हों, महिलाएं हों, कर्मचारी हों या हमारी सीमाओं की रक्षा करने वाले जवान हों या हमारे प्रधानमंत्री की माँ हों। तब किसी को कतई ये आभास नहीं था कि ये सारे वादे उनको लूटने के लिये किये जा रहे हैं और इनमें से एक भी पूरा नहीं होने वाला। आईए उनके चंद वादों उर्फ़ जुमलों पर एक सरसरी निगाह डालते हैं :

- 15 लाख हर खाते में देने का वादा
- युवाओं को हर साल 2 करोड़ रोज़गार का वादा
- काला धन ख़त्म करने का वादा
- आतंकवाद ख़त्म करने का वादा
- 100 स्मार्ट सिटी बनाने का वादा
- किसानों को डेढ़ गुना दाम देने का वादा
- महंगाई ख़त्म करने का वादा
- चीन को लाल आंख दिखाकर बात करने का वादा

गंगा की सफ़ाई का वादा

... और भी काफी कुछ।

ये थे कुछ वादे जो आपने अपने कानों से सुने होंगे। ठीक आज से लगभग 5 साल पहले जब मैं इन सवालों का जवाब ढूंढने देश की जनता के पास गया तो उनका एक ही जवाब था, गर्म–गर्म लच्छे में नारों की रसदार चाशनी में लिपटे हुए थे। आज मौजूदा सरकार को आये 5 साल हो चुके हैं, और चुनावी नारे को नए नारे से जोड़ दिया गया। 2 करोड़ रोज़गार की जगह 3 करोड़ रोज़गार छीन लिया गया। काले धन का पता नहीं लेकिन नीरव मोदी और विजय माल्या जैसे लोगों को भारी कर्ज़ दे दिया गया। आतंकवाद ख़त्म करने का नारा भी फ़ेल हो गया। मौजूदा सरकार ही में सबसे ज़्यादा देश के जवान शहीद हुए। स्मार्ट सिटी का दावा भी खोखला निकला और बनारस को टोक्यो बनने सपना भी। मौजूदा सरकार में किसानों की फ़सलों के दाम में बढ़ोत्तरी तो नहीं हुई लेकिन किसानों की आत्महत्या में ज़रूर बढ़ोत्तरी हुई। महंगाई का तो पता नहीं लेकिन आज भी देश मे दो वक़्त की रोटी के लिए ग़रीब मरते हैं।चीन को लाल आँख तो कहीं दिखी नहीं लेकिन चीन का बनाया हुआ सामान ज़रूर दिखा। गंगा सफ़ाई का वादा भी एक जुमला रह गया। ज़रा सोचिए जो हर साल वादे को बदल सकते हैं, वो देश क्या चलाएंगे?

अब आपको सोचना है, हमें सोचना है, युवाओं को सोचना है कि सरकार चुनना है या अपना भविष्य? आपका एक वोट मौजूदा देश के हालात के लिए बहुत क़ीमती है, आपका वोट आपके देश को बदल सकता है, अगर इसका सही इस्तेमाल किया जाए।

छात्रों को उनके सारे अधिकार मिलें

अलमास अहमद

(छात्र, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय)

घोषणा पत्र किसी भी व्यक्ति या दल के इरादों का खुले रूप से प्रकाशित ऐलान होता है। राजनीतिक दल या पार्टियां चुनाव से पहले किसानों, युवाओं, महिलाओं और अन्य लोगों एवं समुदायों के लिए अपने कल्याणकारी इरादों को घोषणा–पत्र में प्रकाशित करती हैं।

आगामी लोकसभा चुनाव हमारे सामने है और यह शब्द "घोषणा पत्र" हमारे सामने राजनीतिक दलों और मीडिया के द्वारा एक बार फिर बार–बार उपयोग



किया जाएगा। लेकिन चुनाव के बाद वह राजनीतिक दल जीते या हारे, उसका चुनावी घोषणा पत्र नेताओं की ज़ुबान या अवचेतन मन में बना रहेगा, ज़मीन पर लागू होता नहीं।

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में लगभग 315 मिलियन छात्र हैं। लेकिन जैसा कि आंकड़े बताते हैं कि छात्रों के मुद्दों को उचित तरीके से संबोधित नहीं किया जा रहा है और इस परिदृश्य में "छात्रों के घोषणा पत्र" का महत्व सामने आता है।

मौजूदा परिस्थिति में छात्रों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जिन्हें पर्याप्त तरीक़े से संबोधित करना चाहिए और राजनीतिक दलों को अपने घोषणा पत्र में शामिल करना चाहिए। अगर हम व्यापक स्तर पर देखें तो शिक्षा का निजीकरण एक बहुत ही गंभीर और भयावह मुद्दा है, क्योंकि यह हमारे प्रतिभाशाली दिमाग़ों के संपूर्ण विकास को होने से रोकता है। साथ ही शिक्षण संस्थानों के फ़ंड में कटौती और विभिन्न कोर्सेज़ की सीटों में कटौती भी गंभीर समस्याएं है, जिनपर बात होनी चाहिए।

"शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009" के अनुचित कार्यान्वयन के कारण स्कूली शिक्षा की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। ऐसे कितने ही स्कूल हैं जहां अध्यापक–छात्र अनुपात उचित नहीं है, जो आबादी से काफ़ी दूर हैं, यहां तक कि जहां शौचालय की भी उचित व्यवस्था नहीं है।

उच्च शिक्षा की बात करें तो हम पाते हैं कि सरकार सर्वश्रेष्ठ शोध के लिए तो विश्वविद्यालयों से हमेशा मांग करती है लेकिन शोधार्थियों को मिलने वाली फ़ेलोशिप कभी समय पर नहीं देती। फ़ेलोशिप का समय से मिलना और उचित रूप से मिलना भी राजनीतिक दलों का एजेंडा होना चाहिए।

देश में रोज़गार की हालत इतनी बुरी कभी नहीं रही। एनडीए सरकार इस वादे के साथ सत्ता में आई थी कि हर साल दो करोड़ रोज़गार देगी लेकिन बीते पांच सालों में भी वह ऐसा नहीं कर सकी। राजनीतिक दलों को अपने घोषणा पत्र में रोज़गार के वादे के साथ उसे पूरा करने की प्रणाली भी प्रस्तुत करनी चाहिए ताकि वे युवाओं का विश्वास प्राप्त कर सकें।

आगामी चुनावों से पहले युवाओं एवं छात्रों की जागरूकता को देखकर कम–से–कम इतना तो साफ़ है कि इस बार उन्हें लुभावने वादों से नहीं बहलाया जा सकेगा। छात्रों के घोषणा–पत्र की ओर राजनीतिक दलों को ध्यान देना होगा तभी वे सत्ता शीर्ष पर विराजमान हो सकेंगे।



विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय

सिर्फ़ सोचने से नहीं बना करते

प्रोफ़ेसर अपूर्वानंद झा

क्या हम ऐसे विश्वविद्यालय बना रहे हैं या क्या हमारे पास पहले से ऐसे विश्वविद्यालय हैं जिनसे समाज को फ़र्क पड़ता हो? यह प्रश्न पंकज चंद्रा की किताब 'बिल्डिंग यूनिवर्सिटीज़ दैट मैटर' के मूल में है। किताब का उपशीर्षक 'व्हेयर आर इंडियन यूनिवर्सिटीज़ गोइंग रॉन्ग' यह स्पष्ट कर देता है कि दरअसल हमारी उच्च शिक्षा से गहरी निराशा ही पहले प्रश्न को जन्म देती है। क्या इसमें यह निहित है कि हम ऐसे विश्वविद्यालय बना ही नहीं सकते?

पंकज चंद्रा अपनी किताब में दुनिया भर के विश्वविद्यालयों के बनने और बाद में बने रहने की कहानी पर नज़र डालते हैं और समझने की कोशिश करते हैं कि क्यों ऑक्सफ़ोर्ड या हार्वर्ड लंबे समय तक अपनी श्रेष्ठता बनाए रख पाते हैं और क्यों भारत में श्रेष्ठ माने जाने वाले संस्थान पच्चीस बरस गुज़रते न गुज़रते अपनी चमक खोने लगते हैं? ऐसा नहीं कि हमारे पास ऐसे संस्थान बिलकुल नहीं। इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ साइंस या टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च जैसी संस्थाएं हैं और इससे यह मालूम होता है कि यह नहीं कि भारत में इसकी क्षमता या संभावना ही नहीं। लेकिन क्यों ये अपवाद बने रहने को अभिशप्त हैं?

यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है, जैसा पंकज अपनी पुस्तक में विस्तार से बताते हैं, कि श्रेष्ठता यदि अपवाद हो तो उसका अपने भव्य अकेलेपन में टिके रहना बहुत कठिन होता है, अगर असंभव न हो तो भी। क्योंकि शिक्षा में श्रेष्ठता की संस्कृति विकसित करनी होती है और इसके लिए नीचे से लेकर ऊपर तक कई स्तरों और जगहों पर प्रयास करने होते हैं। श्रेष्ठता का संबंध अपने जीवन की गुणवत्ता को लेकर कुछ महत्वाकांक्षाओं से भी है दृ क्या समाज औसतपन की ज़िंदगी से संतोष कर लेता है या वह शिक्षित होकर ऊंची ज़िंदगी जीना चाहता है?

सरकार का यह कहना कि वह विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय बनाने को संकल्पबद्ध है एक खोखला जुमला लगता है, वह इसलिए कि जो विश्वविद्यालय अभी हैं उनके साथ उसके व्यवहार से श्रेष्ठता के सिद्धांत को लेकर उसकी प्रतिबद्धता में यक़ीन नहीं जगता।

पंकज चंद्रा का कहना है कि श्रेष्ठ संस्थाएं सिर्फ़ इच्छा या कुछ व्यक्तियों से नहीं बल्कि कुछ सांस्थानिक प्रक्रियाओं और संस्कृति के प्रति सावधानी के चलते ही विकसित हो पाती हैं। दूसरे, किसी भी ऐसी संस्था के लिए पहली शर्त उसकी पूर्ण स्वायत्तता है। समाज, जिसकी तरफ़ से सरकारें काम किया करती हैं यक़ीन करे कि विश्वविद्यालय अपनी देखभाल खुद कर सकते हैं और उनके कामकाज और उनकी ज़िंदगी में कोई दखल न दे। स्वायत्तता को पुरस्कार या मेहरबानी और सुविधा न मानकर अनिवार्यता माना जाना चाहिए। अगर अभी विश्वविद्यालय को यह कहा जाए कि पहले वह साबित करे कि वह स्वायत्तता के लायक़ है फ़िर उसे यह दी जाएगी तो यह गाड़ी को घोड़े के आगे बांधने जैसी बात है।

मसलन, जब नालंदा विश्वविद्यालय के निर्माण का ऐलान हुआ तो शुरू से ही कहा जाने लगा कि वह एक विश्वस्तरीय विश्वविद्यालय होगा। लेकिन यह मालूम हुआ कि कुलपति के चयन से लेकर पाठ्यक्रम तक के निर्माण में उसने विश्व स्तर पर स्वीकृत प्रक्रियाओं का पालन नहीं

किया, बल्कि श्रेष्ठ पुरुषों की अनौपचारिक निर्णय क्षमता पर विश्वास किया। फ़ल यह है कि आज वह विश्वस्तरीय वेतन के बावजूद किसी भी मामूली राज्यस्तरीय विश्वविद्यालय के बराबर ही माना जा रहा है। अध्यापक और छात्र, दोनों ही उसे छोड़कर जा रहे हैं।

भारत में इसीलिए यह असंभव लगता है। पंकज केंद्रीय विश्वविद्यालयों के साथ–साथ राज्यों के विश्वविद्यालयों पर भी नज़र डालते हैं और निजी विश्वविद्यालयों की भी पड़ताल करते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि प्रायः हर जगह सरकारी या मालिकों की गैरज़रूरी दख़लंदाज़ी दिखलाई पड़ती है।

विश्वविद्यालय के घटक कौन–कौन से हैं और उनका एक–दूसरे के साथ क्या रिश्ता है? छात्र, शिक्षक और विश्वविद्यालय को चलाने वाले प्रशासक स्पष्ट रूप से दिमाग़ में उभरते हैं। छात्र किसी विश्वविद्यालय को क्यों चुनते हैं? आम तौर पर इसका उत्तर होना चाहिए कि वे विभिन्न विश्वविद्यालयों की तुलना करते हैं और देखना चाहते हैं कि अध्ययन–अध्यापन के लिहाज़ से कौन बेहतर है। हाल में एक ऐसे मित्र से बात हो रही थी जो शिक्षा के निजीकरण के विरुद्ध हैं। उनकी बेटी ने दिल्ली विश्वविद्यालय की जगह अशोका यूनिवर्सिटी को चुना। यह वे किंचित अफ़सोस के साथ बता रहे थे। इस विश्वविद्यालय से उनका गहरा रिश्ता रहा है लेकिन वे अपनी बेटी से बहस की हालत में भी न थे। अगर छात्र और अभिजन किसी सार्वजनिक संस्था से किनारा करने लगें तो मान लेना चाहिए कि उसके दिन पूरे होने वाले हैं।

पंकज यह पूछते हैं कि आख़िर विश्वविद्यालय किसका है? चूंकि शिक्षक इनमें से सबसे लंबे वक़्त तक परिसर में रहते हैं, वे स्वाभाविक रूप से उसके संबंध में किसी भी निर्णय में अपना पहला अधिकार मानते हैं, लेकिन भारत में यह किसी को अस्वाभाविक नहीं लगता कि विश्वविद्यालय के कुलपति के चुनाव में उसके शिक्षक समुदाय की कोई राय ली ही नहीं जाती। उसी प्रकार अधिकतर राज्यों में विश्वविद्यालय को इसका अधिकार नहीं कि वह अपने शिक्षक का चुनाव ख़ुद कर सके। यह काम लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाएं किया करती हैं। यह तो और भी असंभव है कि विश्वविद्यालय अपने छात्र का चुनाव करने का तरीक़ा ख़ुद तय कर सकें।

अगर हम दुनिया के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में कुलपति के चुनाव की प्रक्रिया को देखें तो वहां छात्र, शिक्षक और पूर्व छात्र तीनों ही अपनी भूमिका निभाते हैं। भारत में कुलपति के चयन का काम वैसे लोग करते हैं जिनका उस विश्वविद्यालय से कोई लेना–देना ही नहीं रहा है। मानो उस विश्वविद्यालय की उस वक़्त की आवश्यकता को समझने और उसके मुताबिक़ प्रशासक चुनने पर विचार करना आवश्यक ही न हो!

पंकज को यह जानकर और भी ताज्जुब होगा कि भारत के अग्रणी माने जाने वाले विश्वविद्यालय में कई विभागों में शोधार्थी यह तय नहीं कर सकते कि उनके निर्देशक कौन होंगे और न शिक्षक ही अपने शोधार्थी का चयन कर सकते हैं।

पंकज यह ठीक कहते हैं कि स्वायत्तता के सिद्धांत की स्वीकृति के साथ यह समझना भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय एक संगठन है। उसमें अलग–अलग घटक होंगे और उनकी अपनी जगह निश्चित होगी, भूमिका भी। मसलन छात्र और अध्यापक अगर दीवारों के रंग और ईंट का प्रकार भी तय करना चाहेंगे तो इसका अर्थ यह है कि वे पूरी तरह से भ्रमित हैं। हां! पाठ्यक्रम क्या हो, यह प्रशासन अगर शिक्षक समुदाय को अलग रखकर तय करेगा तो फिर वह अपराध कर रहा है। भारत के विश्वविद्यालय जगत में काफ़ी कुछ गड़बड़ी इन घटकों की अपनी–अपनी भूमिका को लेकर अस्पष्टता के चलते भी है।

पंकज इस प्रसंग में सांस्थानिक प्रक्रियाओं पर विशेष ध्यान देने को कहते हैं। ये लिखित और अलिखित दोनों ही होती हैं और इनके प्रति ईमानदारी की अपेक्षा सभी पक्षों से है। अक्सर विश्वविद्यालय अपनी संस्कृति का हवाला देते हैं। अगर हरएक विश्वविद्यालय के संचालन की एक ही प्रक्रिया होगी तो फिर उनकी संस्कृति में विशिष्ट क्या है!

पंकज का बहुत भरोसा छात्र और शिक्षक राजनीति पर नहीं है। वे उसे भी भारत की उच्च शिक्षा के पतन का कारण मानते हैं। इस पर बहस हो सकती है कि क्या यही मुख्य कारण हैं या ये आनुषंगिक हैं? क्या बनारस हिंदू विश्वविद्यालय या इलाहाबाद विश्वविद्यालय के नष्ट होने का कारण छात्र राजनीति है या कुछ और! इनमें प्रमुख है शिक्षकों के चयन की प्रक्रिया। इस चयन को लेकर सबसे अधिक समय और सावधानी चाहिए लेकिन पांच मिनट से पंद्रह मिनट के इंटरव्यू में अध्यापक ही नहीं कुलपति तक का चयन कर लिया जाता है। इससे संस्थान की अपने मुख्य कर्तव्य, यानी शिक्षण और शोध की गुणवत्ता के प्रति गंभीरता का पता चलता है।

ज़्यादातर विश्वविद्यालय संसाधनहीन हैं, हर मामले में। विभाग और कॉलेज शिक्षकों से ख़ाली हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय सात साल से अस्थायी शिक्षकों के सहारे चल रहा है। इससे शिक्षण में किसी निरंतरता की संभावना नहीं रहती और न अध्यापक संस्था को अपना ही पाते हैं। पुस्तकालय में नई किताबों की ख़रीद नहीं होती। विश्वस्तरीय पत्रिकाओं के दर्शन राज्यों के कॉलेज के अध्यापकों को भी नहीं होते, न तो विज्ञान के अध्यापक उन उपकरणों के बारे में सोच भी सकते हैं जिन्हें जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय के छात्र इस्तेमाल करते हैं।

शिक्षण के बारे में भी राज्य और ख़ुद शिक्षक समुदाय के भीतर की समझ पर बहस होना ज़रूरी है। शिक्षण और शोध के बीच एक आत्यंतिक रिश्ता है और इसलिए स्नातक स्तर के अध्यापकों का शोध के लिए अवकाश और साधन पर उतना ही हक़ है, यह समझना नीति निर्माताओं के लिए कठिन है। यह मान लिया गया है कि अध्यापन का ज्ञान के सृजन से कोई रिश्ता नहीं है।

पंकज चंद्रा की किताब निजी और उच्च शिक्षा के संसार भर के अनुभवों के सहारे यह कहती है कि भारत में श्रेष्ठता को हासिल करने के लिए विश्वस्तरीय प्रक्रियाओं को अपनाने की आवश्यकता है। विश्वविद्यालय के प्रसंग में किसी भी प्रकार के राष्ट्रवादी संकुचन से नुकसान ही होगा।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफ़ेसर हैं।)

124 वां संवैधानिक संशोधन आरक्षण विधेयक तथा सामाजिक न्याय के कथित योद्धाओं की भूमिका

विश्वंभर नाथ प्रजापति

बदलाव एक सतत प्रक्रिया है। हर दौर में कमोबेश बदलाव होता ही है लेकिन वह बदलाव समाज को आगे भी ले जा सकता है और पीछे भी। एक ऐसा ही बदलाव संविधान के 124वें संशोधन के बारे में कहा जा सकता है। अगर इस देश में सबसे ऊपर कोई चीज़ है तो वह इस देश का संविधान है, जिसको सभी ने स्वीकार किया है। क्योंकि यह समाज में बराबरी लाने का अब तक सबसे बेहतरीन तरीक़ा साबित हुआ है, जिसको इस देश के संविधान निर्माताओं ने समझा। अगर भारत की सामाजिक संरचना को देखा जाए तो गैर–बराबरी, जाति–पाति, ऊंच–नीच, छुआछूत इस तरह की तमाम व्यवस्थाएं इस देश को एक राष्ट्र के रूप में बनने से रोकती हैं। इसलिए समाज में बराबरी, अवसरों की समानता के लिए प्रावधान किये गए। लेकिन एक संस्था या इंस्टीट्यूशन के रूप में जाति सबसे ख़तरनाक और गैर–लोकतान्त्रिक है। भारत में चाहे कोई भी धर्म रहा हो, उसमें जातीय चरित्र विद्यमान रहा है। इसलिए हज़ारों की तादाद में न केवल हिन्दुओं में बल्कि बुद्धिस्ट, सिख, मुस्लिम और क्रिश्चियन्स में भी जातियां मौजूद हैं। और इस सच्चाई को संविधान निर्माता भी जानते थे। उन तबकों को जिनको कि जाति के आधार पर बहिष्कृत कर रखा गया और सभी तरह के अधिकारों चाहे वो शिक्षा पाने का अधिकार हो, कहीं भी उठने–बैठने का अधिकार हो या अपनी मर्ज़ी से शादी और व्यवसाय का अधिकार हो, से वंचित रखा गया था, उनके लिए संविधान ही एकमात्र ऐसा स्रोत है जिससे कि वह अपने अधिकारों को बचा सकता है। जैसे कि अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समानता, अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) इन पिछड़े तबकों के लिए शिक्षा और रोज़गार के लिए आरक्षण और अनुच्छेद 19 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देता है। लेकिन कुछ दिनों पहले ही देश की वर्तमान सरकार अनुसूचित जाति, आदिवासी, पसमांदा और पिछड़ों के अधिकारों पर कुठाराघात करते हुए एक बिल ले के आयी जिसको नाम दिया 'रिज़र्वेशन फ़ॉर इकोनोमिकली वीकर सेक्शंस'। यह ग़रीब सवर्ण जाति के लोगों के लिए दस प्रतिशत आरक्षण है।

हक़ीक़त से रू-ब-रू कराते कुछ सवाल

इस विधेयक में बिना किसी ठोस आधार के ही कपोल कल्पित कल्पना के आधार पर मान लिया गया कि इस देश में सवर्ण ग़रीब हैं और उनकी आबादी 10 प्रतिशत है। पहली बात तो यह कि सवर्ण ग़रीब वर्ग होता है या नहीं, यह किसी को नहीं पता है और यदि होता है तो कौन से कमीशन की रिपोर्ट है? इसका सर्वेक्षण कब सरकार ने कराया? भारत के विभिन्न राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों में कितनी आबादी ग़रीब सवर्णों की है? भारत के किस राज्य में कितने प्रतिशत ग़रीब सवर्ण है? क्या कोई ऐसा ज़िला भी है जहां पर केवल ग़रीब सवर्ण हैं? सवर्णो की विभिन्न जातियों में कौन कितना ग़रीब है, इसकी जानकारी कहां है? दूसरी बात, क्या सरकार के ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम से इन सवर्ण ग़रीबों को कोई फ़ायदा नहीं मिला? कितने ग़रीब



सवर्ण हैं जिन्होंने विभिन्न कार्यक्रमों का फ़ायदा नहीं लिया? क्या सरकार की नीतियां ग़रीबों के विरुद्ध हैं जो ग़रीबों की संख्या बढ़ रही है और वह भी केवल उच्च जाति के लोग ग़रीब हो रहे हैं? तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण बात, जब आरक्षण का आधार सदियों से चले आ रहे जातिगत भेदभाव, सामाजिक, और शैक्षणिक रूप से पिछड़ेपन से है, फिर भी आर्थिक आधार क्यों बनाया गया?

उपरोक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में तथाकथित सामाजिक न्याय के पुरोधाओं की भी जाँच पड़ताल करना बहुत ज़रुरी है। पहले और दूसरे बिंदु पर ज़्यादा बात इसलिए नहीं करूँगा क्योंकि ये दोनों ही बातें आप खुद से सोचिये। पहली बात एक मेथोडोलॉजिकल सवाल है और दूसरी बात पॉलिसी लेवल का सवाल है, जो सीधे–सीधे वर्तमान सरकार की विफलताओं और प्रोपोगंडा को दर्शाता है। तीसरी बात हमारे "सामाजिक न्याय" के आकाओं से जुड़ी है।

प्रथम पिछड़ा वर्ग (काका कालेलकर कमीशन) के समय से ही सवर्णों का तर्क आर्थिक आधार पर रिज़र्वेशन का था ताकि सदियों से चली आ रही शोषणकारी जाति व्यवस्था को ज्यों का त्यों रखा जा सके। जिन अनुच्छेदों का प्रावधान संविधान में है उसको तो तथाकथित बहुजन, समाजवादी, वामपंथी पार्टियां लागू नहीं करा पा रही हैं और जो संविधान के एकदम विरुद्ध हैं उसमें बीजेपी का खुले दिल से साथ दे रहीं हैं। इनको दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों से कोई लेना देना नहीं है इसलिए उनके ख़िलाफ़ ही खड़े हो रहे हैं। इन पार्टियों को बीजेपी को ब्राह्मणवादी और मनुवादी बोलने से दो फ़ायदे होते हैं। पहला यह कि बीजेपी तो ब्राह्मणवादी और मनुवादी है, यह सबको पता चल जाता है, दूसरा और सबसे बड़ा फ़ायदा यह होता है कि वे खुद ब्राह्मणवादी हैं, यह प्रश्न ही गायब हो जाता है, उनका ब्राह्मणवाद छुप जाता है, वही हाल है आज की राजनीति का। उत्तर प्रदेश में ओबीसी वर्गीकरण के घोर विरोधी पार्लियामेंट में सवर्ण रिज़र्वेशन का समर्थन करते हैं। सवर्णों का रिज़र्वेशन स्वीकार है लेकिन अति पिछड़ों और पसमांदा का रिज़र्वेशन नागवार गुज़रता है। क्या यही है सामाजिक न्याय? यही है बहुजन राजनीति? लोकसभा और राज्यसभा का सांसद बनने के लिए भारत के नागरिक को पागल या दिवालिया नहीं होना चाहिए ऐसा हमारा संविधान कहता है। अब देखिए कौन है पार्लियामेंट में? हमारे संविधान निर्माता बहुत दूरदर्शी थे। लेकिन आज पूरा पार्लियामेंट पागल और दिवालिया लोगों से भरा है और उसी का परिणाम है 10% सवर्ण आरक्षण।

सवर्णों के आगे सारी पार्टियों ने घुटने टेक दिए। लोकसभा में कुल 326 मतों में से 323 समर्थन में पड़े और 3 विरोध में पड़े। वहीं राज्य सभा में 165 मत समर्थन में और 7 विरोध में पड़े और भारी बहुमत से यह बिल पास हो गया। बीजेपी को हरा दो तो आरएसएस की हार हो जाती है तो बीजेपी को समर्थन करके किसको जिताया गया है? आरएसएस को? इसीलिए ये

सब पार्टियां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सवर्ण रिज़र्वेशन जो कि सीधे–सीधे संवैधानिक सिद्धांतों का उल्लघंन है, उसमें साथ दे रही हैं। कैसे नहीं माना जाएगा कि बाक़ी पार्टियां भी ब्राह्मणवादी नहीं हैं? आज उनका ब्राह्मणवाद बीजेपी के ब्राह्मणवाद के साथ मिलकर एक हो गया है।

आज सवर्णों को रिज़र्वेशन मिला है, इसके लिए सुश्री मायावती, रामदास अठावले और अखिलेश यादव जैसे लोग भी ज़िम्मेदार हैं। सवर्णों के रिज़र्वेशन को चर्चा में लाने का क्रेडिट भी बहन जी को ही जाता है। बहन जी तो पिछले एक दशक से सवर्णों के रिज़र्वेशन की पुरज़ोर वकालत करती रही हैं। इस बिल को लाने के लिए संविधान की मूल भावना के साथ छेड़–छाड़ करते हुए संविधान में संशोधन केवल 24 घंटे में ही कर दिया गया। किसी को भी बताया नहीं गया, ना ही इस बिल को पार्लियामेंटरी स्क्रुटनी कमिटी के पास भेजा गया। और सबसे अद्भुत बात यह है की सभी पार्टियों ने इसका न केवल समर्थन किया बल्कि इसके लिए अपना वोट भी बीजेपी के साथ दिया, और तथाकथित सामाजिक न्याय की राजनीति करने वाली पार्टियां जैसे कि बसपा, सपा और राजद ने भी इस बिल का समर्थन किया। जबकि इन पार्टियों का अस्तित्व ही सवर्णों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध करके आया था। जैसे की बसपा का यह नारा कि 'तिलक, तराज़ू और तलवार, इनको मारो जूते चार' इसमें साफ़–साफ़ द्विज वर्णों की सत्ता को चैलेंज किया गया है, लेकिन आज यह पार्टी इन्हीं के चरणों में गिर पड़ी है। सन् 1993 के चुनावों में इसी बसपा ने किसी भी सवर्ण को टिकट नहीं दिया था लेकिन आज सवर्ण रिज़र्वेशन का सबसे ज़्यादा समर्थन करने वाली यही है। पिछले एक दशक से ही बसपा सवर्ण रिज़र्वेशन का समर्थन करती रही है और 10 प्रतिशत रिज़र्वेशन देने की बात करती रही है। इसमें एक वजह यह भी है 2007 के चुनावों में ब्राह्मण–दलित गठजोड़ ने काफ़ी हद का बसपा को फ़ायदा पहुंचाया था। सपा ने भी अपने पिछले घोषणा पत्र में सवर्ण रिज़र्वेशन का समर्थन किया था जैसा की श्री रामगोपाल वर्मा ने खुद ही कहा कि "सपा तो इससे पहले भी उत्तर प्रदेश में त्रि–स्तरीय रिज़र्वेशन ख़त्म करने का काम कर चुकी है।" और यह होगा भी क्यों नहीं अखिलेश यादव परशुराम को आदर्श बताते है, विष्णु मंदिर और विष्णु नगर बनाने की बात करते है। ब्राह्मणों और सवर्णों को खुश करने के लिए बसपा–सपा हाराहूशी से लगे हुए थे। राजद ने भी 'मुख में राम बगल में छुरी' का फार्मूला अपनाते हुए समर्थन किया। राजद के तेज प्रताप यादव, बिहार पूर्व स्वास्थ्य मंत्री भी खुलकर राम मंदिर और सवर्ण रिज़र्वेशन का समर्थन करते हैं। यही हाल मज़दूरों के दर्द को भुनाने वाली सी.पी.एम. का भी है जिसने अपने ब्राह्मणवादी जातीय चरित्र का परिचय देते हुए बिल का समर्थन किया।

अब प्रश्न उठता है की दलित, पिछड़ा, आदिवासी, पसमांदा, मज़दूर और मुसलमानों की बात करने वाली पार्टियों ने आख़िर इन समुदायों का साथ न देकर सवर्णों का साथ क्यों दिया? बीजेपी जब ब्राह्मण–बनिया हितों के साथ सवर्णों की पार्टी है, आरएसएस के इशारों पर काम करती है तो आख़िर तथाकथित सामाजिक न्याय की पार्टियां किसके इशारों पर काम करती हैं? आज इन्होंने जो ऐतिहासिक भूल और दलित–पिछड़ों के साथ धोखा किया, वह भी तारीख़ में दर्ज हो गया है। भारत में लोकतंत्र, संविधान में विश्वास की वजह से चलता है लेकिन अगर इस संवैधानिक विश्वास पर ही हमला हो तो वह लोकतंत्र पर हमला है। मुसलमानों की बात करने वाली सपा कभी भी पिछड़े मुसलमानों के रिज़र्वेशन के लिए आज तक बिल नहीं ला पायी। सपा का अस्तित्व ही 'माय' समीकरण पर टिका है जिसमें कि पहले मुस्लिम हैं फिर यादव। लेकिन मुस्लिमों को बदले में क्या मिला? सपा बैकवर्ड मुस्लिमों का रिज़र्वेशन बढ़ाने के लिए कभी आंदोलन नहीं कर पायी।ओबीसी वर्गीकरण का भी विरोध करती है जबकि उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में अति पिछड़ों और पसमांदा की हालत सबसे ख़राब है। स्वास्थय के मामले में भी अधिकतर अति पिछड़ी जातियां बहुत ही बुरी हालत में हैं। उनका स्वास्थ्य किसी सवर्ण के मुकाबले बहुत ही निम्न स्तर का होता है। महिलाओं का भी स्वास्थ्य इन समाजों में बहुत ही निम्न स्तर का है। बसपा खुद को दलितों का मसीहा बताती रही है लेकिन इनके ख़्वाबों और ख़्यालों में कितनी बार दलित मुस्लिम और दलित क्रिश्चियन्स आये, आप खुद सोचिये। अनुच्छेद 341 की खामियों और 1950 के राष्ट्रपति आदेश पर कौन बोलेगा? क्या सामाजिक न्याय कभी अति पिछड़ों, पसमांदा, दलित मुस्लिमों और दलित क्रिश्चियन्स तक पहुंचेगा? क्या कभी इनकी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्थिति दिखती है? सवर्ण ग़रीबों की कल्पना करके इन्होंने समाज के दबे–कुचले वर्गों के साथ धोखा किया है। इन सामाजिक न्याय के योद्धाओं ने एक तरफ़ जहां सदियों से दबे–कुचले समाजों के अधिकारों का विरोध किया है तो वहीं दूसरी तरफ़ सवर्ण रिज़र्वेशन का भरपूर समर्थन किया है। बीजेपी के साथ मिलकर तथाकथित सामाजिक न्याय के झण्डाबरदारों ने भी दबे कुचले लोगों की पीठ में छुरा घोंपा है। एक तरफ़ जहां सवर्ण रिज़र्वेशन अचानक से लेकर सर पर पटक दिया गया,

वहीं दूसरी तरफ़ ओबीसी वर्गीकरण के मुद्दे को दरकिनार कर दिया गया। सामाजिक न्याय के पलड़े पर इन दोनों तरह के रिज़र्वेशन को तौलना बहुत ही ज़रुरी है। ख़ासतौर पर उत्तर प्रदेश के उदाहरण से इसे बखूबी समझा जा सकता है।

उत्तर प्रदेश में अति-पिछड़ा और पसमांदा के मायने

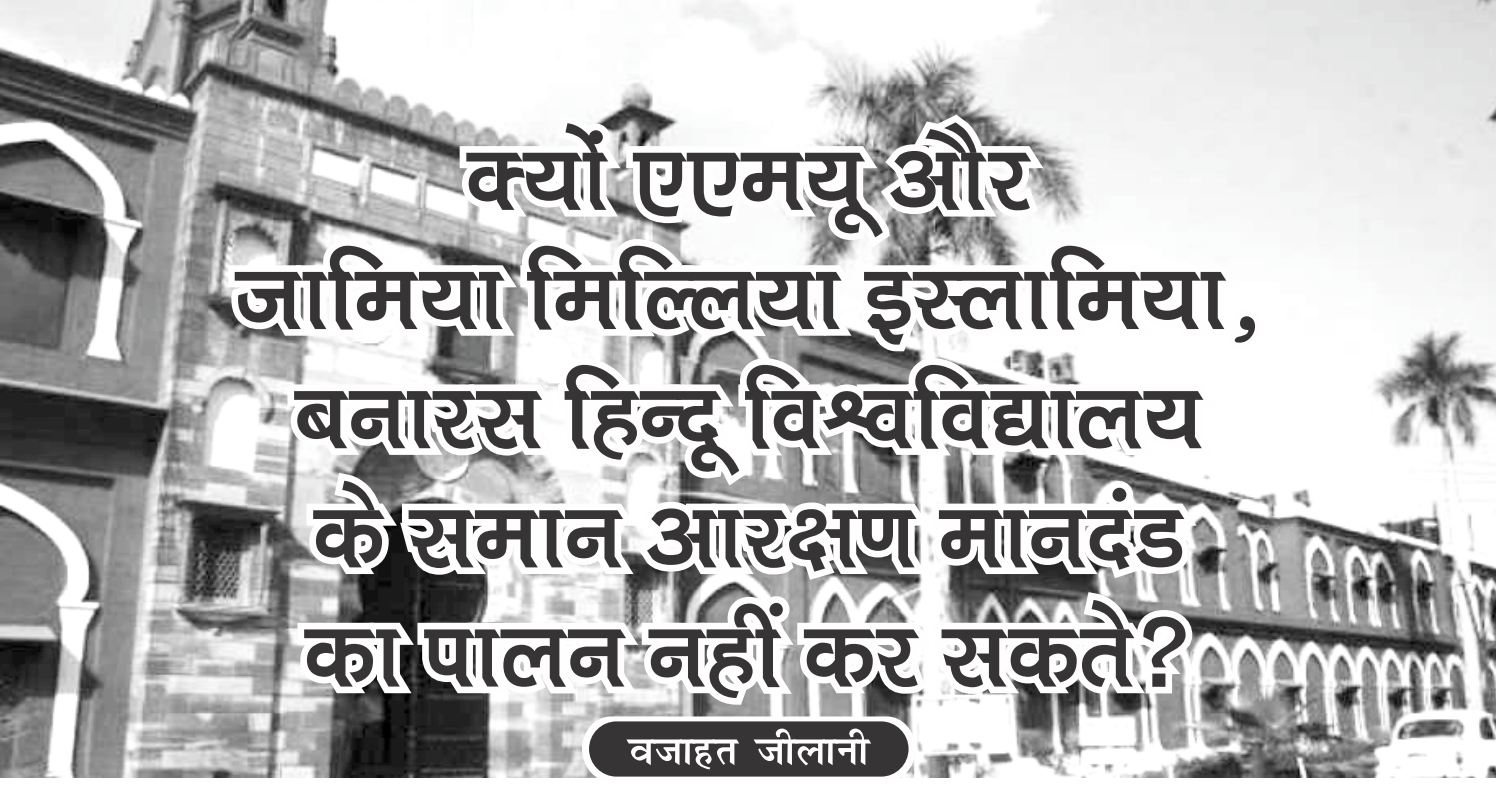
पिछड़ा वर्ग के अंदर ही कई वर्ग हैं और उन वर्गों की सामाजिक, राजनितिक और आर्थिक स्थिति का सवाल भी भिन्न है। ऐसे में ओबीसी के अंदर कम से कम तीन श्रेणियां तो एकदम से उभर के आती हैं। एक वे जातियां जिनके पास ज़मीनें रही हैं और जिनको मज़दूरी करने की कोई ज़रूरत नहीं थी और सामाजिक प्रस्थति में कृषक का जो स्थान है वही था। दूसरी वे जातियां जिनके पास ज़मीन या तो बिल्कुल कम थी या थी ही नहीं लेकिन उनके पास परम्परागत कौशल जैसे कि बुनकर का काम, बर्तन बनाने का काम, लोहे–लकड़ी का काम, मछली पकड़ने, बालू निकालने का काम, घर बनाने का काम था। उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के दौर में उन्होंने अपना कौशल खो दिया। तीसरी एक और श्रेणी जो काफ़ी अदृश्य है, वह उन दलित मुसलमानों और ईसाइयों की थी जो काम तो दलितों का ही करते थे लेकिन राजनीतिक और धार्मिक भेदभाव के चलते दलितों में न शामिल करके ओबीसी में ही धकेल दिए गए। बाक़ी की दो श्रेणियों की हालत सबसे ज़्यादा ख़राब है क्योंकि न तो इनके पास पर्याप्त ज़मीनें थीं और न ही बदलते परिवेश में ये अपने कौशल को बचा पाए और सत्ता से तो ये हमेशा से ही दूर रहे। किसी भी पार्टी को कुछ चुनिंदा जातियां ही चाहिए जैसे कि ओबीसी में यादव और कुर्मी चाहिए। वैसे ही ओबीसी का मतलब यादव और कुर्मी बना दिया गया है। बाक़ी हज्जाम, नाई, लोहार, कहार, कुम्हार, गड़ेरिया, मोमिन, मंसूरी, चूड़ीहारी, काछी, दर्जी, तेली ये सब तो दृश्य से ही गायब हैं।

वर्तमान समय में ओबीसी वर्गीकरण का सबसे उग्र विरोध ओबीसी का ही का एक वर्ग कर रहा है, जिसका मानना है कि बीजेपी ओबीसी को तोड़ने की साज़िश कर रही है। ये सबसे बेतुका तर्क है क्योंकि जब 1931 की जातिगत जनगणना के आधार पर ही ओबीसी को रिज़र्वेशन मिल सकता है तो अतिपिछड़ा और पसमांदा को क्यों नहीं मिल सकता? यह बात भी हमें ध्यान रखने की ज़रुरत है कि बिहार और तमिलनाडु जैसे सामाजिक न्याय के अग्रणी राज्यों ने यह वर्गीकरण पहले से ही कर रखा है। ख़ासकर कर्पूरी जी के नेतृत्व में अतिपिछड़ों को एक पहचान मिली जिनके फॉर्मूले को बाद के कई राज्यों ने अपनाने की कोशिश की। आज के वक़्त में भारत की जितनी भी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पार्टियां है उनमें से किसी के भी एजेंडे में अति पिछड़ों का प्रतिनिधित्व, पसमांदा का प्रतिनिधित्व, सच्चर कमेटी को लागू करना, यह सब नहीं है। फिर रिज़र्वेशन बढ़ाना तो बड़ी दूर की बात है, यहाँ तक कि इस पर कोई बात और चर्चा भी नहीं हो रही है।

सामाजिक न्याय की राह :

नीत्शे कहता है कि "न्याय उनमें पैदा होता है जो लगभग समान रूप से शक्तिशाली हैं।" तो क्या दलित और पिछड़े तबके सवर्णों के समान शक्तिशाली हैं? नहीं, तो फिर न्याय का जन्म कैसा होगा? न्याय पैदा होगा इन तबकों को भी बराबरी, अवसरों की समानता और प्रतिनिधित्व देने से। लेकिन प्रतिनिधित्व किसको मिला? जो पहले से शक्तिशाली हैं यानि न्याय स्थापित नहीं हो रहा है। होना तो यह चाहिए था कि पिछड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व उसकी आबादी के हिसाब से दिया जाता ताकि न्याय और समानता आ सके लेकिन हुआ इसके उल्टा। समाजवादी, बहुजन और सर्वहारा की राजनीति करने वालो में वैचारिक दरिद्रता पैदा हो गयी है। इनके अंदर न्याय की मूलभूत अवधारणा की समझ ही नहीं पैदा हो रही है। प्रतिनिधित्व की सबसे तत्काल ज़रूरत अगर किसी को है तो वे हैं अति पिछड़े, पसमांदा, दलित मुस्लिम और दलित क्रिश्चियन्स! क्यों नहीं मिलते हैं इन समुदायों के डॉक्टर, इंजीनियर्स, कॉर्पोरेट्स, थानेदार, पुलिस, सिविल सर्वेंट, प्रोफ़ेसर, वाइस चांसलर, विधायक, सांसद, मंत्री? क्योंकि लोकतंत्र कुछ जातियों और वर्गों तक आकर ठहर गया है और उसी की कड़ी है सवर्ण रिज़र्वेशन बिल। जिसके लिए बीजेपी, कांग्रेस, सीपीआई, सीपीएम के साथ–साथ तथाकथित सामाजिक न्याय के प्रहरी सपा, बसपा, जदयू और राजद भी ज़िम्मेदार हैं। एक तरफ़ सवर्ण रिज़र्वेशन को खुलेआम समर्थन और दूसरी तरफ़ अति पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधित्व का विरोध आज की राजनीतिक दुर्दशा और अपरिपक्वता को दिखाता है। शाहू जी महराज, फुले, पेरियार, अब्दुल क़य्यूम अंसारी, डॉ आंबेडकर, कर्पूरी ठाकुर और मान्यवर कांशीराम के रास्तों से यह लोग भटक गए हैं, जिसका ख़ामियाज़ा हमें भुगतना पड़ेगा।

(लेखक जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।)



क्यों एएमयू और जामिया मिल्लिया इस्लामिया, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के समान आरक्षण मानदंड का पालन नहीं कर सकते?

वजाहत जीलानी

25 जून को कन्नौज (उत्तर प्रदेश) में एक कार्यक्रम के दौरान, मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने विपक्षी दलों के नेताओं पर निशाना साधते हुए कहा था, "अगर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय दलितों और पिछड़े वर्गों को आरक्षण दे सकता है तो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और जामिया मिलिया इस्लामिया क्यों नहीं दे सकते?"

दिलचस्प बात यह है कि 2017 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव से पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा इसी तरह के सवाल उठाए गए थे। दलित समूहों द्वारा सत्ताधारी दल के ख़लिाफ़ बड़े पैमाने पर देशव्यापी विरोध प्रदर्शन के बाद और समाजवादी पार्टी के नेता अखिलेश यादव और बसपा प्रमुख मायावती के बीच बढ़ती नज़दीकियोंके बीच आदित्यनाथ की यह टिप्पणी आई थी। यह टिप्पणी सत्ताधारी पार्टी द्वारा भाजपा विरोधी अल्पसंख्यक और अनुसूचित जाति के वोटों के विलय को रोकने के लिए एक हताश प्रयास ही प्रतीत हुआ था।

हालाँकि, मुख्यमंत्री के बयान का समय और प्रकृति अच्छी तरह से सोची–समझी मालूम होती है, फिर भी हम मुख्यमंत्री के प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हैं।

बीएचयू में आरक्षण लेकिन अन्य विश्वविद्यालयों में नहीं?

केंद्रीय शैक्षणिक संस्थान (प्रवेश में आरक्षण) अधिनियम, 2006 सीटों के आरक्षण के लिए क़ानूनी फ़्रेमवर्क प्रस्तुत करता है। इसकी प्रस्तावना में, यह कहा गया है कि यह अधिनियम "अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और नागरिकों के अन्य पिछड़े वर्गों के छात्रों के प्रवेश में उन चुनिंदा केंद्रीय शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण सुनिश्चित करेगा जो केंद्र सरकार द्वारा स्थापित किए गए हैं अथवा जिन्हें केंद्र सरकार द्वारा रख–रखाव हेतु सहायता दी जाती है।"

इससे दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहला, कि यह कानून केंद्र सरकार द्वारा धारा 2 (डी) के तहत परिभाषित केंद्रीय शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के लिए आरक्षण की व्यवस्था करता है, जिनकी स्थापना केंद्र सरकार द्वारा की गई हो या जिनके रख–रखाव हेतु केंद्र सरकार सहायता करती हो। इसलिए, डीयू, बीएचयू के साथ–साथ एएमयू, जामिया मिल्लिया इस्लामिया और अन्य डीम्ड विश्वविद्यालय इसके दायरे में आते हैं।

दूसरा निष्कर्ष महत्वपूर्ण है। प्रस्तावना में केंद्रीय शिक्षण संस्थानों को परिभाषित करते हुए "चुनिंदा" शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि अनिवार्य रूप से यह इंगित करता है कि कहीं–न–कहीं छूट मौजूद है।

धारा 2 (डी) केंद्रीय शैक्षिक संस्थानों को परिभाषित करती है -

– एक केंद्रीय अधिनियम के तहत या उसके द्वारा स्थापित या निगमित एक विश्वविद्यालय;

– संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित राष्ट्रीय महत्व की एक संस्था;

– एक संस्थान, जिसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 (1956 का 3) की धारा 3 के तहत एक डीम्ड विश्वविद्यालय घोषित किया गया है

और उसे केंद्र सरकार से सहायता प्राप्त हो रही है;

– एक संस्थान जिसे केंद्र सरकार से सहायता प्राप्त हो रही है, चाहे वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हो, और खंड (i) या खंड (ii) में निर्दिष्ट संस्थान से जुड़ी हो, या किसी संस्था की घटक इकाई हो जो खंड (iii) में निर्दिष्ट है;

– एक शैक्षणिक संस्थान जिसकी स्थापना केंद्र सरकार द्वारा सोसायटी पंजीकरण अधिनियम, 1860 के तहत की गई हो।

धारा 3 विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए आरक्षण का ढांचा और प्रतिशत प्रदान करती है, जबकि धारा 4 में इसके अपवाद हैं। यह इस नियम का पालन करती है कि एससी के लिए 154 आरक्षण, एसटी के लिए 7. 54 और ओबीसी के लिए 274 आरक्षण संकाय की प्रत्येक शाखा में कुल संख्या में से होगा।

अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों के पक्ष में अपवाद

धारा 4 उन मामलों के लिए है जिन पर यह अधिनियम लागू नहीं होता है, जैसे कि कुछ अनुसंधान संस्थान आदि। धारा 4 (बी) में विशेष रूप से अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों को अधिनियम और कुछ विशेष पाठ्यक्रमों के तहत परिभाषित किया गया है जो केंद्र सरकार निर्दिष्ट करती है। धारा 4 (बी) में कहा गया है :

इस अधिनियम की धारा 3 के प्रावधान लागू नहीं होंगे :

(बी) इस अधिनियम में परिभाषित अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान;

इसके अलावा, भारत के संविधान का अनुच्छेद 15 (5) भी 'अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थानों' को सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के नागरिकों या एससी और एसटी के लिए राज्य द्वारा बनाए गए शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश से संबंधित किसी विशेष क़ानून के दायरे से मुक्त करता है।

उपरोक्त चर्चा द्वारा स्पष्ट है कि :

– प्रवेश में आरक्षण का क़ानून सभी शैक्षणिक संस्थानों के लिए एक अनिवार्य प्रावधान है जो क़ानूनी दायरे में आते हैं। इसलिए, यह सुझाव कि एएमयू को आरक्षण प्रदान करना चाहिए क्योंकि बीएचयू करता है, भ्रामक है। बीएचयू द्वारा नीति का पालन, हालांकि सराहनीय है, और एक प्रमुख केंद्रीय विश्वविद्यालय से यही उम्मीद भी की जानी चाहिए।

– कुछ शिक्षण संस्थानों को इस में छूट दी गई है, जिस में अल्पसंख्यक संस्थान शामिल हैं। इस प्रकार टीवी और सोशल मीडिया पर चलने वाली यह बहस ग़लत है कि 'क्यों एक संस्था नियमों का पालन कर रही है और दूसरी नहीं कर रही है।' क़ानून, जैसा कि स्पष्ट है, बीएचयू और एएमयू दोनों की वर्तमान प्रवेश नीति के लिए अनुमति देता है।

एएमयू का अल्पसंख्यक चरित्र

बेशक, पूरी बहस इस बात पर निर्भर है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और जामिया मिल्लिया इस्लामिया अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान हैं या नहीं? यदि वे नहीं हैं, तो वे किसी अन्य छूट के तहत नहीं आएंगे। वे उसी क़ानून के अधीन होंगे जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की एक अल्पसंख्यक संस्थान के रूप में स्थिति विवादास्पद रही है। 1967 से, यह मामला अदालतों में रहा है। सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपील में, 25 मई 2006 को दो न्यायाधीशों की पीठ द्वारा जारी एक आदेश ने उल्लेख किया कि "अपीलकर्ता संस्थानों के अन्य सभी मामलों के संबंध में स्थिति, उच्च न्यायालय में याचिका दायर करने की तिथि से यथावत बनी रहेगी।" परिणामस्वरूप, एएमयू एक अल्पसंख्यक संस्थान बना हुआ है।

यह छूट क्यों? संविधान किस तरह की समानता की परिकल्पना करता है?

हां, क़ानून छूट देता है, लेकिन क्या यह समानता के सिद्धांतों के ख़िलाफ़ नहीं है? भारत के संविधान का अनुच्छेद 14–18 समानता के अधिकार की बात करता है। विशेष रूप से, अनुच्छेद 14 कहता है कि राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।

हालाँकि, संविधान निर्माताओं ने औपचारिक समानता पर विचार नहीं किया था, अर्थात् किसी भी आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए – बल्कि, नियम यह है कि संविधान में एक समान रूप में व्यवहार करने का सकारात्मक अधिकार भी है। इसके पीछे के तर्क को T-M-A Pai Foundation &Ors- cuke Karnataka State के मामले में सुप्रीम कोर्ट की 11 जजों की बेंच ने एक परिवार के उदाहरण के माध्यम से समझाया है कि, "सभी सदस्यों के पास एक ही संविधान नहीं है, चाहे वह शारीरिक और / या मानसिक हो। सामंजस्यपूर्ण और स्वस्थ विकास के लिए, माता–पिता और विशेष रूप से मां के लिए, स्वाभाविक रूप से कमज़ोर बच्चे को अधिक ध्यान और भोजन देना है ताकि उसे मज़बूत बनाने में मदद मिल सके। ... अच्छे कारणों के लिए एक विशेष वर्ग पर कुछ अधिकारों का उल्लेख करना, असमान नहीं माना जा सकता है। भारत के सभी लोग एक जैसे नहीं हैं, और इसीलिए समाज के एक ख़ास तबके के लिए

तरजीही व्यवहार नहीं किया जाता है।"

क्या सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान का अल्पसंख्यक दर्जा समाप्त किया जा सकता है?

संविधान के अनुच्छेद 29 (2) के अनुसार यह आवश्यक है कि एक शिक्षण संस्थान जो राज्य से धन प्राप्त कर रहा हो, उसमें किसी भी नागरिक को धर्म, जाति या भाषा के आधार पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जाएगा।

टी.एम.ए. पाई मामले में, अदालत ने माना कि अगर कोई अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान राज्य द्वारा सहायता या अनुदान प्राप्त करता है, तो अनुच्छेद 30 (1) के तहत उसका अपनी पसंद के विद्यार्थियों को प्रवेश देने का अधिकार सीमित हो सकता है और प्रभाव में उसका अल्पसंख्यक चरित्र ख़त्म किया जा सकता है। इसे तय करते हुए, उन्होंने पहले सेंट स्टीफ़न कॉलेज बनाम दिल्ली विश्वविद्यालय का उल्लेख किया, जिसमें यह कहा गया था कि "यह तथ्य कि अनुच्छेद 29 (2) अल्पसंख्यकों के साथ–साथ ग़ैर–अल्पसंख्यकों पर भी लागू होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि यह अशक्त करने का इरादा था अनुच्छेद 30 (1) में अल्पसंख्यकों को दिया गया विशेष अधिकार समाप्त कर दिया जाएगा।"

न्यायालय ने टी.एम.ए. पाई फ़ाउन्डेशन मामले में आगे कहा कि "अनुच्छेद 29 (2) में प्रयुक्त शब्द 'केवल' का काफ़ी महत्व है और इसका इस्तेमाल किसी उद्देश्य के लिए किया गया है। अल्पसंख्यक विद्यार्थियों को एक उचित सीमा तक समायोजित करने के उद्देश्य से ग़ैर–अल्पसंख्यकों के प्रवेश को अस्वीकार करना न केवल धर्म आदि के आधार पर होगा, बल्कि मुख्य रूप से संस्था के अल्पसंख्यक चरित्र को संरक्षित करने और अनुच्छेद 30 (1) को प्रभावित करने के लिए होगा..."

इस प्रकार, स्थिति स्पष्ट है। अनुच्छेद 29 (2) के दायरे में आने के बावजूद, एक सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान को केवल नाम में 'अल्पसंख्यक' नहीं बनाया जा सकता है।

अनुच्छेद 15 (5) के तहत अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों का बहिष्कार

आइए हम यह मान लें कि अनुच्छेद 15 (5) ने अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों को छूट नहीं दी है, अर्थात् सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों और एससी, एसटी को प्रवेश में आरक्षण प्रदान करने के लिए बनाए गए क़ानून, अल्पसंख्यक संस्थानों पर भी लागू होते हैं – परिणाम क्या होगा? अनुच्छेद 30 (1) के तहत संरक्षित संस्थानों का अल्पसंख्यक चरित्र प्रभावित हो सकता है।

यह बिंदु प्रामति एजुकेशनल एंड कल्चरल ट्रस्ट बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया (2014) 8 एससीसी 1, में निम्नलिखित रूप में उल्लेखित किया गया है:

"दूसरे शब्दों में, अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों का अल्पसंख्यक चरित्र, जिसे संविधान के अनुच्छेद 30 के खंड (1) में वर्णित किया गया है, चाहे वह सहायता प्राप्त हों या अनधिकृत, सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के नागरिकों या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रवेश से प्रभावित हो सकता है और यही कारण है कि अल्पसंख्यक संस्थानों, सहायता प्राप्त या अनधिकृत, को अनुच्छेद 15 के खंड (5) के तहत राज्य की सक्षम शक्ति के बाहर रखा जाता है, बहुमत द्वारा बनाए गए कानून से अल्पसंख्यक संस्थानों की रक्षा के लिए।"

अशोक कुमार ठाकुर बनाम यूनियन ऑफ़ इंडिया (2008) 6 एससीसी 1 में कहा गया है कि, "अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान स्वयं में ही एक अलग वर्ग हैं और संविधान के अनुच्छेद 30 के तहत उनके अधिकारों की रक्षा की जाती है, और इसलिए, अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थानों का अनुच्छेद 15 (5) से बहिष्कार, संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं है।"

एससी / एसटी विद्यार्थियों की एएमयू में शिक्षा

2016–17 में नेशनल इंस्टीट्यूशनल रैंकिंग फ़्रेमवर्क (एनआईआरएफ़) द्वारा एकत्र किए गए आंकड़ों के अनुसार, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में विभिन्न स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की कुल संख्या 17,259 थी। इनमें से 3,180 विद्यार्थी सामाजिक रूप से पिछड़ी श्रेणियों (एससी, एसटी और ओबीसी) से हैं, जबकि 14,011 'आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों' से हैं। इसलिए, एएमयू में सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के साथ–साथ आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों से आने वाले कई विद्यार्थी पढ़ रहे हैं, यद्यपि संख्या में कम हैं, लेकिन एक अल्पसंख्यक संस्थान के रूप में विश्वविद्यालय, पिछड़े वर्गों से आने वाले युवाओं को शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

आरक्षण नीति, क़ानून और अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों को प्राप्त छूट के पीछे तर्क सुप्रीम कोर्ट की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका है। हमें एक समाज के रूप में उन कारणों को पहचानना चाहिए और विशेषकर संवैधानिक दायरों में रहकर ऐसा करना चाहिए।

सन्दर्भ एवं स्रोत :

1. Dalits should get reservation in AMU, Jamia just like BHU: Yogi Adityanath
https://m.economictimes.com/news/politics-and-nation/dalits-should-get-reservation-in-amu-jamia-just-like-bhu-yogi-adityanath/videoshow/64729588.cms

2. AMU no minority institution, committing big crime by not following quota: RSS
https://indianexpress.com/article/india/india-news-india/amu-no-minority-institution-committing-big-crime-by-not-following-reservation-policy-rss-2861540/

3. Akhilesh , Mayawati in constant touch to discuss SP-BSP alliance ahead of 2019 elections
https://m.hindustantimes.com/india-news/akhilesh-yadav-mayawati-in-constant-touch-on-sp-bsp-alliance/story-J2ziJubBINWaHxjXw2jiaI.html

4. Central Educational Institutions (Reservation in Admission) Act, 2006

5. https://supremecourtofindia.nic.in/jonew/bosir/orderpdf/305568.pdf

6. https://indiankanoon.org/doc/512761/

7. https://indiankanoon.org/doc/1545248/

8. https://indiankanoon.org/doc/32468867/

9. https://indiankanoon.org/doc/1219385/

10 https://nirfcdn.azureedge.net/2018/pdf/OVERALL/IR-7-O-OEMALDC-U-0496.pdf

(लेखक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के विधि विभाग में अध्ययनरत हैं और राष्ट्रीय स्तर पर वाद–विवाद प्रतियोगिताओं में विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं।)

कविता

देश में चुनाव है
जल में सबकी नाव है
वोटरों का बढ़ रहा
फिर यहाँ पे भाव है

दल सभी बदल रहे
ताक में टहल रहे
जीत के वो ख़ाब में
नीद में मचल रहे

घोषणा तमाम है
कागजों पे काम है
रैलियां यहाँ वहाँ
दौड़ सुब्हो शाम है

चौकीदार चोर है
हर तरफ़ ये शोर है
राजनीत अब यहाँ
नित पतन कि ओर है

पोल कोई खोल दो
झूठ कोई बोल दो
मीडिया ख़रीद लो
मीडिया का मोल दो

नींद में था सो गया
वक्त ख़त्म हो गया
पांच साल और दो
पांच साल खो गया

असद आज़मी



क्यों एक विश्वविद्यालय को आतंक का अड्डा कहना घोर अपराध है?

मुहम्मद नवेद अशरफ़ी

अंग्रेज़ों ने भारत पर सैकड़ों बरस हुकूमत की। जब उनसे पूछा जाता कि आप लोग हिन्दुस्तान क्यों आये हैं तो उनका जवाब होता कि हम हिन्दोस्तान को तहज़ीब सिखाने आए हैं! भारतीय उपमहाद्वीप की खूबियां और उत्कर्षगाथाएं तब से ही शुरू हो जाती हैं जब आदमियत के जद्दे अकबर (अर्थात् परमपिता) हज़रत आदम अलैहिस्सलाम ने इस सरज़मीन पर क़दम रखा। उनके बाद महात्मा बुद्ध, श्री राम, ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया, गुरु नानक, रानी लक्ष्मीबाई, बेग़म हज़रतमहल, रज़िया सुल्तान, महात्मा गांधी, मौलाना आज़ाद, बाबा आंबेडकर, रबीन्द्र नाथ टैगोर, राजा राम मोहन राय, सय्यद अहमद, स्वामी विवेकानन्द, आर्यभट्ट, टीपू सुल्तान जैसी महान आत्माओं ने अपनी मौजूदगी से इस पाक ज़मीन को इज्ज़त बख्शी। इस पर कोई अंग्रेज़ यह कहे कि हम आपको 'तहजीबयाफ्ता' बनाने आए हैं तो इससे उसका मकर, फ़रेब और कपट उजागर हो जाता है। अंग्रेज़ों के इस जुमले को भारत के सुनहरे इतिहास के सापेक्ष रखने पर यह जुमला दो कौड़ी का जान पड़ता है लेकिन यदि वर्तमान स्थिति में देखें तो बहुत सम्भावना है कि इस जुमले में जान पड़ती नज़र आए।

आज़ादी से पहले सपना था कि एक शांतिपूर्ण, मर्यादाप्रिय, अनुशासित, और सुकूनपरस्त भारत का निर्माण करेंगे। हम आज़ाद हुए मुल्क के बंटवारे की क़ीमत पर। आज़ादी तो मिली लेकिन बरसों तक भय, आतंक और मायूसी ने साथ नहीं छोड़ा। आज़ादी के पहले दिन का सूरज बहुत काला था। बक़ौल शायर फैज़ अहमद फैज़ :

ये दाग़-दाग़ उजाला यह शब-गज़ीदा सहर,

वो इंतिज़ार था जिसका ये वो सहर तो नहीं!

अंग्रेज़ों ने हमसे हमारी दौलत तो लूटी ही, साथ ही हमारी तहज़ीब भी हमसे छीनकर ले गए। फिर जो हुआ दुनिया ने देखा, हमने एक दूसरे के गले काटे, बहू–बेटियों की आबरू लूटी, बच्चों को यतीम किया। साम्प्रदायिकता की आग में हम बुरी तरह झुलस गए और गोडसे जैसों की एक बड़ी नस्ल "टिड्डी दल" की भांति मुल्क को हरा–भरा होने से पहले ही उसकी हरयाली को गर्भ में ही खा गयी।

अभी कुछ ही दिन गुज़रे हैं कि एक कट्टरपन्थी साम्प्रादायिक संस्था के एक नुमाइंदे ने ऐतिहासिक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को "आतंकवाद की नर्सरी" घोषित कर डाला। यहाँ अंग्रेज़ों का वही जुमला याद आता है जिसका ज़िक्र इस लेख के आरम्भ में किया गया। चर्चिल जमात के अंग्रेज़ आज भी पूछ सकते हैं कि आख़िर क्या ग़लत कहा था हमने उस दौर में! तुम तो आज तक नहीं जान पाए कि इल्मी दर्सगाहों और शिक्षा के मंदिरों को क्या इज्ज़त बख्शनी चाहिए! तहज़ीब तुम्हारे क़रीब से होकर गुज़री ही नहीं! तुमको शऊर ही नहीं कि "इल्म" और "दहशतगर्दी" में उतना ही फ़ासला है जितना कि राम और रावण में! वो अंग्रेज़ इस बात पर यक़ीन नहीं करेंगे कि हमारे हिन्दुस्तान में इल्म हासिल करने को सबसे अव्वल जिहाद माना जाता है और इस कार्य को देवी सरस्वती और हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की अनुकम्पाओं का आधार भी।

यह तो रही नैतिक मूल्यों और तहज़ीब की बात; अब 'सेकुलर' तथ्यों पर दृष्टि डालते हैं। सेकुलर अर्थात् ग़ैर–आध्यात्मिक, दुनियावी और यथार्थवादी! जिस व्यक्ति ने यह नीच बयान दिया है उससे यह तो सिद्ध होता ही है कि वह कितनी पाशविक और नीच प्रवृत्ति का है, साथ ही यह भी पता चलता है कि उसने देश के महानतम ग्रन्थ अर्थात् 'भारतीय संविधान' की किस तरह खिल्ली उड़ाई है। संविधान और संसद द्वारा पारित क़ानूनों में जो बातें अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हवाले से लिखी गयीं हैं, उनके हिसाब से यह बयान संविधान का घोर अपमान है। ऐसे लोगों में नैतिकता का क्या स्तर है, इसके बारे में सोचने का तो कोई तुक ही नहीं बनता है, लेकिन अपनी हरकतों से देश के संविधान और उसकी साख को जो बट्टा ये लोग लगा रहे हैं, उसके बारे देश की संवैधानिक संस्थाओं, न्यायालयों और सबसे महत्वपूर्ण देश की जनता को सोचना चाहिए और इनसे सचेत रहना चाहिए।

भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची की प्रविष्टि 63 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के साथ राष्ट्रीय महत्व का संस्थान घोषित किया गया है। जो लोग 'राष्ट्र' और राष्ट्रीय धरोहर का महत्व नहीं समझ सकते, वे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय जैसी दर्सगाहों का मोल भला क्यों समझने लगे! जिन लोगों के हाथ महात्मा गांधी के क़त्ल के लिए बने हों, उनके नज़दीक राष्ट्र, देशप्रेम, जन–सद्भाव, और राष्ट्रीय महत्व जैसे शब्द कुछ भी मायने नहीं रख सकते। "राष्ट्रीय महत्व" और "आतंक की नर्सरी" दृ इन दो अवयवों को एक संस्थान से जोड़ा गया है जो एक दूसरे के शीर्षाभिमुख हैं और एक दूसरे के विद्रोही भी। इनमें से एक संविधान का 'विचार' है तो दूसरा किसी भ्रष्ट सोच का 'विकार'। एक संविधान है तो दूसरा संविधानविद्रोही। देश की संवैधानिक संस्थाओं, न्यायालयों, और समझदार जनता को अब स्पष्ट कर लेना चाहिए कोई भी संविधान के विरुद्ध कुछ भी बोल कर चला जाता है और देश के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। मीडिया–महान भी सोता रहता है। इसी प्रदूषित मानसिकता को जेएनयू जैसा संस्कृति और आधुनिकता का समागम "नक्सली अड्डा" नज़र आता है।

संविधान सर्वोपरि है जिसकी आत्मा के अनुरूप ही देश की विधायिका कानून बनाती है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्विद्यालय का वजूद इसी तरह के एक क़ानून से है जिसे अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिनियम : 1920 कहते हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिनियम का अनुच्छेद 13 खण्ड (1) कहता है –

भारत के (माननीय) राष्ट्रपति अलीगढ़ मुस्लिम विश्विद्यालय के कुलाध्यक्ष (विज़िटर) होंगे।

इसी अधिनियम का अनुच्छेद 15 कहता है –

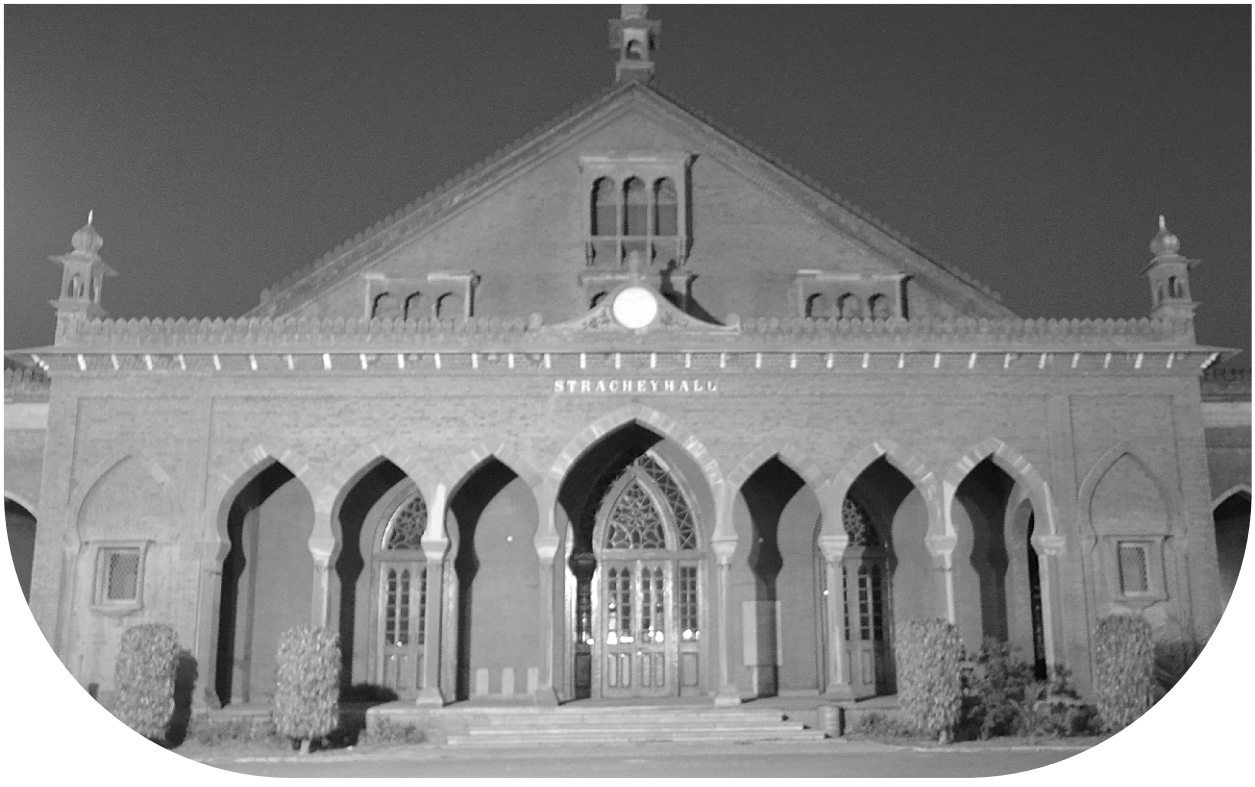
उत्तर प्रदेश राज्य के (माननीय) राज्यपाल अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मुख्याधीष्ठाता (चीफ़ रेक्टर) होंगे।

इसके अलावा भारतीय संसद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) और मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय सहित देश के अन्य केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को हर तरह का पोषण प्रदान करता है जिसमें धन–आपूर्ति सबसे महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त क़ानूनी दस्तावेज़ों और मानदंडों से यह निचोड़ निकलता है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में जो भी गतिविधियां अंजाम दी जा रहीं है :

– राज्यपोषित हैं, अर्थात् उनके विकास, वृद्धि और उत्कर्ष के लिए राज्य उनको आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराता है।

– प्रदेश के (माननीय) राज्यपाल की सीधी सरपरस्ती में अंजाम दी जा रही हैं।



– देश के महामहिम (माननीय) राष्ट्रपति के "महामार्गदर्शन" में पूर्ण की जाती हैं।

अब सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्विद्यालय में किस तरह की गतिविधियां अन्जाम दी जा रही हैं? इसका अंदाज़ा भद्रजनों को माननीय राष्ट्रपति श्री प्रणब मुख़र्जी के दिसम्बर 2013 के विश्विद्यालय दौरे से हो जाएगा, जिसमें उन्होंने अखिल भारतीय सामाजिक विज्ञान कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन का उद्घाटन किया था। कांग्रेस में देश–विदेश के सामाजिक विज्ञानी, डॉक्टर, इंजिनियर, विचारक, वैज्ञानिक आदि इसलिए तशरीफ़ लाए थे कि भारतीय समाज को किस तरह संवारा जाये। उनका उद्देश्य वह नहीं था जो संघ जैसे समाज–संहारक और असामाजिक तत्वों का होता है। इससे पहले पूर्व राष्ट्रपति श्री एपीजे अब्दुल कलाम (जिन्हें उनके देहावसान के बाद राष्ट्रवादी होने का सर्टिफिकेट भी मिल गया है) अ.मु.वि. तशरीफ़ लाए थे और छात्र–छात्राओं को उनकी विशेष गतिविधियां पूर्ण करने पर उनको मुबारकबाद दे गये, उनको डिग्रियाँ बांटी और सोने पे सुहागा यह कि सोने के मैडल भी दे गए। मानो कह गए हों कि अपने कारनामों में और ज़्यादा तरक्की करो। पूरा देश श्री अज़ीज़ कुरैशी को भली भांति जानता है। मिज़ोरम, उत्तराखंड और उत्तरप्रदेश के राज्यपाल पद पर सेवाएं दे चुके हैं और गौवध के क़तई समर्थक नहीं हैं; वो भी अ.मु.वि. में कई अवसरों पर छात्र–छात्राओं को आशीर्वाद दे चुके हैं।

– देश के संवैधानिक पदाधिकारी (जो देश में सबसे अधिक माननीय हैं) अ.मु.वि. परिसर में आकर जिन गतिविधियों को मान देते हैं, वो गतिविधियां किसी व्यक्ति को आतंकवाद नज़र आती हैं।

– जिन संस्थानों को संविधान राष्ट्रीय महत्व का दर्जा देता है, वे उन्हीं व्यक्तियों को आतंक के अड्डे और नक्सली अड्डे नज़र आते हैं।

– जिन पर देश की करोड़ों की कमाई इस आशा से बहाई जा रही है ताकि इस देश का युवा कल एक सुनहरा युग देखे, नए समाज का सृजन करे, शिक्षा से आदर्श, प्रेम और इन्सानियत के गुर सीखे, वे मासूम नौजवान कट्टरपंथियों को आतंकी नज़र आते हैं।

गहरा विरोधाभास है, संविधान की आत्मा और इस दिवालिएपन में काले और सफ़ेद में फ़र्क करना सीखना होगा। इस ज़हर से निपटने के लिए पढ़ी–लिखी और सजग जनता का जागना बहुत ज़रूरी है क्योंकि कल कोई महात्मा गांधी दोबारा नज़र नही आएगा।

(लेखक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में शोधरत हैं ।)



भारतीय छात्र राजनीति और एएमयू

उज़्मा सरवत

भारत में छात्र राजनीति विश्वविद्यालयीय शिक्षण व्यवस्था का अहम तत्व रही है। शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्रों में आज़ादी के बाद से छात्र राजनीति ने न केवल छात्रों की समस्याओं को केंद्र में रखकर अपनी गतिशीलता क़ायम रखी है बल्कि छात्र राजनीति से निकले नेताओं ने राष्ट्रीय राजनीति में भी बढ़–चढ़कर अपनी भागीदारी निभाई है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी विश्वभर में छात्र राजनीति की बेहद महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अमरीका से लेकर यूगोस्लाविया, चीन, जापान, फ्रांस, युक्रेन, जर्मनी आदि देशों में छात्र आंदोलनों के आगे सरकारों को झुकना पड़ा है।

यदि हम भारतीय छात्र राजनीति की संस्कृति पर नज़र डालें तो हमें भारत में छात्र राजनीति तथा छात्रसंघ के लगभग 150 वर्षों से भी पुराने, विस्तृत व समृद्ध इतिहास से रु–ब–रु होना होगा। सन् 1848 में दादा भाई नौरोजी ने 'दी स्टूडेंट साइंटिफ़िक एंड हिस्टोरिक सोसाइटी' की स्थापना की थी, इसकी स्थापना को भारत में छात्र आंदोलनों के प्रारंभिक प्रयास के तौर पर जाना जाता है। इसके पश्चात स्वतंत्रता आंदोलन के हर महत्वपूर्ण पड़ाव में छात्रों का भारी तादाद में भाग लेकर अपनी महत्ता दर्ज कराने का एक सिलसिला चल पड़ा। इसी दौरान अलग–अलग विचारधाराओं तथा ख़ेमों के तले विभिन्न संगठन क़ायम किये गए। उदाहरण के तौर पर सन् 1936 में हिन्दू छात्र महासंघ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की विचारधारा के तहत संगठित किया गया। वहीं मुस्लिम लीग द्वारा सन् 1937 में ऑल इंडिया मुस्लिम छात्र महासंघ को संगठित किया गया। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (अमुवि) का छात्रसंघ भी आधिकारिक तौर पर मुस्लिम विश्वविद्यालय छात्रसंघ के नाम से सन् 1920 से जाना जाने लगा।

हिंदुस्तान की स्वतंत्रता से पूर्व समस्त छात्र आंदोलन तथा छात्र राजनीति का केंद्र आज़ादी का संघर्ष रहा और इसी एकमात्र ध्येय को प्राप्त करने के लिए देशभर के युवाओं ने अपनी आवाज़ बुलंद की। अमुवि में छात्रों का आज़ादी से पहले के समय से ही राजनीति में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेने का अपना एक समृद्ध इतिहास है।

उस समय भी छात्रसंघ सामजिक सरोकारों और विद्यार्थियों के अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्षरत रहते थे। आज़ादी के बाद छात्र आंदोलनों के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में बदलाव आया। अब देश के विभिन्न

क्षेत्रों में विभिन्न उद्देश्यों के तहत छात्र आंदोलन हुए। काफ़ी हद तक छात्रों का ध्यान स्थानीय मुद्दों पर केंद्रित रहा। इस दौरान देश में अनेक छात्र संगठनों का उदय हुआ। कुछ उल्लेखनीय छात्र आंदोलन जैसे नव निर्माण छात्र आंदोलन गुजरात (1973), असम छात्र आंदोलन (1979), बिहार छात्र आंदोलन (1974) आदि ज़्यादातर स्थानीय मुद्दों की वजह से हुए। हालांकि छात्र समय–समय पर अपनी सक्रियता का परिचय देते हुए राष्ट्रीय विषयों पर भी अपने मत एवं विरोध व्यक्त करने से पीछे नहीं हटे। भारत में छात्र–नक्सली आंदोलन, चिपको आंदोलन, एन्टी इमरजेंसी मूवमेंट तथा मंडल आंदोलन आदि में अपनी भागीदारी दर्ज कराकर एक नाक़ाबिल–ए–नज़रअंदाज़ पहलू के रूप में छात्र राजनीति उभरकर आयी है। हालांकि आज़ादी के बाद भी राष्ट्रीय राजनीति में युवाओं के हस्तक्षेप की परिकल्पना काफ़ी समय तक मुश्किल रही। देश की राजनीति मतलब अधेड़ उम्र के नेताओं से अटी पार्टियाँ ही मस्तिष्क में उभरती थीं। परंतु समय के साथ हुए छात्र आंदोलनों, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय मसलों पर विमर्श करने तथा परिस्थितियों में हुए बदलाव जैसे तत्वों ने युवाओं के लिए राजनीति की राह आसान कर दी।

छात्र राजनीति ने देश को कई दिग्गज राजनेता दिए जिन्होंने आगे चलकर प्रधानमंत्री पद तक का सफ़र तय किया। इनमें से कई नेताओं का आज भी राष्ट्रीय राजनीति में बड़ा क़द है। उदाहरण के तौर पर देखें तो वर्तमान सरकार की विदेश मंत्री सुषमा स्वराज (भारतीय जनता पार्टी) ने 1970 के दशक में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) के साथ हरियाणा में राजनीति की शुरुआत की थी। बाद में चलकर दिल्ली की मुख्यमंत्री, केंद्र में सूचना प्रसारण मंत्री, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्री आदि पदों से होकर आज मौजूदा मक़ाम पर काबिज हैं। इनके अलावा लालू प्रसाद यादव (राष्ट्रीय जनता दल), अजय माकन (कांग्रेस), ममता बनर्जी (तृणमूल कांग्रेस), सीताराम येचुरी (मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी), अरुण जेटली (भारतीय जनता दल), नीतीश कुमार (जनता दल यूनाइटेड) आदि जैसे कई प्रमुख नाम राष्ट्रीय राजनीति में अपनी पैठ बनाने से पहले छात्र राजनीति से ही जुड़े रहे।

उपरोक्त राजनेताओं में से अधिकांश जे पी आंदोलन से उभरकर निकले छात्र नेताओं की तादाद है। आपातकाल के दौरान कईयों ने जेल काटी और रिहा होने के पश्चात राष्ट्र की राजनीति को गंभीरता से लेते हुए इसमें अपनी जगह सुनिश्चित की। दरअसल आज़ादी के बाद का युवा अपने शिक्षित होने और देश के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण इकाई होने के बावजूद अव्यवस्थाओं तथा अभावों के चलते दुविधा से ग्रसित था। उसके पास या तो व्यवस्था के विरोध में उठ खड़े होकर आंदोलन करना एक मार्ग था या परिस्थितियों को अपनाकर उनके सामने सर झुकाकर जीने की कला सीख लेना दूसरा विकल्प था।

लोकनायक जयप्रकाश नारायण के व्यवस्था विरोधी आंदोलन ने इस दौरान हज़ारों की संख्या में छात्रों को प्रेरित कर देखते ही देखते छात्र नेताओं की एक पीढ़ी खड़ी कर दी। छात्र राजनीति दरअसल हमारी समकालीन राजनीति का विस्तार है। छात्रसंघ चुनावों में हार–जीत तथा अमुक विचारधारा के कैंपस में दबदबा होने और इसके राष्ट्रीय राजनीति में होने वाले प्रभावों पर पूरे देश की मीडिया तथा बुद्धिजीवियों की नज़र रहती है। छात्र राजनीति का उद्भव ही सामाजिक सरोकारों और विद्यार्थियों के अधिकारों से जुड़ी समस्याओं को लेकर संघर्ष करने के हथियार के रूप में हुआ था। राजनीतिक चिंतकों का मानना रहा है कि लोकतंत्र की सफलता के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तत्व है। फलस्वरूप देश के उच्च शिक्षण संस्थानों में लोकतंत्र की सफलता भी अनिवार्य शर्त होनी चाहिए। विश्विद्यालय छात्रों के वैचारिक विकास को विस्तार प्रदान करने का केंद्र होता है।

वर्तमान परिवेश में छात्र राजनीति के स्वरूप की तरफ़ रुख़ करें तो इस समय राज्य एवं केंद्रीय विश्वविद्यालय और उससे जुड़े कालेजों में छात्रसंघ के चुनाव होते हैं। उसमें भी सभी विश्वविद्यालयों में छात्रसंघ के चुनाव नहीं होते हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में 1997 से छात्रसंघ का चुनाव नहीं हुआ है। लखनऊ विश्वविद्यालय (लविवि) में चुनाव बंद है लेकिन अभी हाल में वहां नाम मात्र की छात्र परिषद गठित की गई है।

विश्वविद्यालय प्रशासन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (अमुवि) में भी वक़्त ब–वक़्त या कह सकते हैं कि हर सत्र में छात्रसंघ चुनाव के आयोजन को बाधित करने की तमाम जुगत करता रहता है। हालांकि छात्र अपनी दृढ़ता तथा धरना प्रदर्शनों की मदद से पिछले दो वर्षों से छात्रसंघ चुनाव करवा ले रहे हैं। देश के बाक़ी विश्वविद्यालयों से अमुवि का कैंपस छात्र राजनीति के मामले में काफी जुदा है। यहां दलगत राजनीति संभव नहीं है, पर क्षेत्रवाद की राजनीति पूरी तरह हावी है। क्षेत्र के हिसाब से वोटबैंक तय होता है फिर उस हिसाब से जीत के आँकड़े जुड़ते हैं। कैंपस में छात्रों का सबसे बड़ा समूह बिहार और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का है। इनका वोट बैंक सबसे ज़्यादा है इसलिये इनका दबदबा भी है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के छात्रों की संख्या भी अच्छी ख़ासी है, वे भी अपने दम पर चुनाव में उतरते हैं हालांकि उन्हें वोटों की कमी खलती है।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (अमुवि) की कैंपस राजनीति देश के अन्य विश्वविद्यालयों की कैंपस राजनीति से कई मामलों में भिन्न है। यहाँ के छात्रसंघ की व्यवहारिकता पर ग़ौर करने से पहले अमुवि छात्रसंघ के इतिहास पर एक नज़र डालना उचित होगा। अमुवि के संस्थापक सर सय्यद अहमद ख़ान ने स्वयं अमुवि छात्रसंघ की स्थापना 1884 में 'सिड्डन्स डिबेटिंग क्लब' के रूप में की थी। सिड्डन्स डिबेटिंग क्लब की स्थापना

का मुख्य उद्देश्य विश्वविद्यालय परिसर में बेहतरीन वक्ता एवं समझदार नागरिक व नेता पैदा करना था। सन् 1920 में 'मोहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज (एमएओ)' कॉलेज को केंद्रीय विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हुई। तभी सिड्डन्स डिबेटिंग क्लब का नाम बदलकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय छात्रसंघ कर दिया गया। राजनीति में इस विश्वविद्यालय ने तमाम हस्तियां दीं। भारत, पाकिस्तान, मालदीव के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री भी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पढ़कर निकले। भारत के पूर्व राष्ट्रपति जाकिर हुसैन, बांग्लादेश के पूर्व प्रधानमंत्री मंसूर अली, मालदीव के पूर्व राष्ट्रपति मोहम्मद आमीन दीदी, देश के पूर्व उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी, दिल्ली के पूर्व मुख्यमंत्री साहब सिंह वर्मा, पूर्व केंद्रीय मंत्री मोहसिना किदवई, जम्मू–कश्मीर के पूर्व मुख्यमंत्री अब्दुल्ला शेख मोहम्मद आदि राजनीतिक हस्तियां यहां से पढ़कर निकलीं हैं। सन् 1952 में अमुवि छात्रसंघ का संविधान तैयार किया गया जिसके अनुसार हर नए अकादमिक सत्र के शुरू होने के 75 दिनों के भीतर छात्रसंघ चुनाव का होना सुनिश्चित किया गया। कितनी दफ़ा संविधान के नियमों का उल्लंघन हुआ या कब–कब इसे सर आँखों पर रखा गया यह एक अलग बहस है।



देश के अन्य विश्वविद्यालयों में तमाम राजनीतिक दलों की छात्र इकाइयाँ हैं जो इन छात्र संगठनों के बैनर तले चुनाव लड़ते हैं। पिछले बीस–तीस वर्षों में भारत की छात्र राजनीति में गिरावट का आभास किया जा सकता है। हालांकि 90 के दशक के आरंभ में मंडल कमीशन की सिफारिशों के आधार पर जब आरक्षण की नीति लागू हुई थी तब इसमें एक शानदार उबाल आया था। यह दौर मंडलीकरण का था, भूमंडलीकरण का था, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का था और देखा जाए तो यह सब उस समय में भगवाकरण के बयार के विपरीत दिशा में खड़े थे। बीते कुछ वर्षों में अन्ना के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में छात्रों की भूमिका अथवा तेलंगाना आंदोलन में उस्मानिया विश्विद्यालय के छात्रों की भूमिका ने हमें छात्र एकता का परिचय दिया है।

उल्लेखनीय है कि कॉलेजों और यूनिवर्सिटी में छात्र संघ चुनाव को लेकर साल 2006 में पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त जेम्स माइकल लिंग्दोह ने मानव संसाधन विकास मंत्रालय को जो रिपोर्ट दी थी उसमें उम्मीदवारों की आयु, उनके शैक्षणिक रिकॉर्ड, कक्षा में उपस्थिति के प्रतिशत पर बहुत ज़ोर दिया गया। बाद में सुप्रीम कोर्ट ने छात्र संघ चुनावों के लिए ये बाध्यकारी कर दिया कि लिंग्दोह समिति के सुझावों के आधार पर ही छात्र संघ चुनाव कराए जाएं अन्यथा उन पर रोक लगा दी जाए। लिंग्दोह समिति की सिफ़ारिशों के लागू होने पर देशभर से मिली–जुली राय क़ायम की गयीं तथा इसके भविष्य में होने वाले प्रभाव को लेकर क़यास भी लगाए गए। मेरा मानना है कि यह देश में हो रहे सक्रिय छात्र राजनीति, जिसे अमूमन विपक्ष का पर्याय माना जाता है, पर नकेल कसने की दिशा में एक वार था। इस वजह से तमाम

राज्यों में छात्रसंघ चुनाव कई सालों तक बाधित रहे। छात्र राजनीति को इससे काफ़ी नुकसान हुआ।

राजनीतिक दलों का समाज में अपना ख़ास जातीय, धार्मिक एवं वैचारिक वोट बैंक होता है जिसके आधार पर वे युवाओं को भी अपनी बनाई बाइनरी में फँसाने की पुरज़ोर कोशिश करते हैं। उनका उद्देश्य इन्हें अपने दीर्घकालीन वोट बैंक में तब्दील करना होता है। अब छात्रसंघ के चुनावों में हार–जीत को विचारधारा की हार–जीत के तौर पर देखा जाता है। वैचारिकता को धार देना जहाँ विश्वविद्यालयों में अध्यापकों तथा कैंपस के वातावरण की वजह से होता है, वह अब कैंपस में जबरन राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप करने की वजह से होने लगा है। वैचारिक विमर्श के दौरान विकसित होने वाली एक साझा समझ की प्रक्रिया अब पार्टी लाइन की वैचारिक कट्टरता के उद्भव में तब्दील हो गयी है। शिक्षित होना और विचारधारा में बंधना दो अलग–अलग प्रक्रियायें हैं जिनके बीच की रेखा का धुँधलापन एक चेतावनी के रूप में देखा जाना चाहिए। पिछले दो दशकों में छात्र राजनीति में छात्र नेताओं का रुझान अपने निर्धारित दलों के लिए तो देखा जा सकता है मगर विद्यार्थियों के सहज सवालों के लिए आज राजनीतिक सीमाओं के चलते कोई मंच उपलब्ध नहीं है।

बीते वर्षों में कुछ–कुछ समयांतराल पर हो रहे जेएनयू, एचसीयू, बीएचयू, एलयू तथा एएमयू विवादों ने देश के अलग–अलग विश्वविद्यालयों में छात्रों को एकजुट करने का काम किया है। फिर चाहे मसला राष्ट्रवाद की राजनीति का हो, किसी छात्र की संस्थागत हत्या का हो, किसी छात्र की गुमशुदगी का हो या कैंपस में छात्राओं की असुरक्षा का हो दृ समस्या कहीं से उठी हो, आज छात्र एक दूसरे के साथ खड़े होते हैं, एक नैतिक समर्थन दर्ज करते हुए। देश के राजनीतिक दल जहाँ विश्वविद्यालयों में छात्रों के मस्तिष्कों में अपनी विचारधारा थोप कर अपने पाले में करने को जुटे रहते हैं वहीं दूसरी तरफ़ वे छात्र राजनीति को नियंत्रित करने तथा दबाने की जुगत में भी लगे रहते हैं। हाल ही में लविवि में चल रहे जबरन छात्र–छात्राओं का दाखिला रोकने और शांतिपूर्वक तरीके से अनशन कर रहे छात्रों को ज़बरदस्ती गिरफ़्तार करने के मामले में हम सरकार और विश्वविद्यालय प्रशासन के निरंकुश होने का सबसे ताज़ा उदाहरण देख सकते हैं। छात्रसंघों को सत्ता विरोध के केंद्र के रूप में देखे जाने की वजह से उन्हें नष्ट करने की विभिन्न स्तरों पर पूरी कोशिश की जाती है। छात्र सवाल करते हैं, हक़ की माँग करते हैं, समस्याओं को उजागर करते हैं दृ इसलिए वे विपक्ष का पर्याय बन गए हैं।

अमुवि छात्रसंघ के संविधान के अनुसार इसके गठन के उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी है कि देश और दुनिया की समस्त छात्र बिरादरी में आपसी तालमेल एवं समन्वय की भावना को बढ़ावा दिया जाए। यह बिंदु पढ़कर अमुवि छात्रसंघ की पिछले कुछ समय में देश की छात्र राजनीति में सक्रिय एवं अहम भूमिका उदाहरण के तौर पर नज़र आती है। फिर चाहे वह जेएनयू में उठे छात्रों पर देशद्रोह के इल्ज़ाम का मामला हो या नजीब के लापता होने का मामला हो, जब अमुवि छात्रसंघ के नेतृत्व में विश्वविद्यालय के छात्रों ने हज़ारों की संख्या में जुटकर पिछले ही सत्र में 'रेल रोको आंदोलन' किया, पुलिस की लाठियाँ खायीं पर राष्ट्रीय स्तर पर हक़ की लड़ाई में हिम्मत से डटे रहे। सितंबर 2017 में हुए बीएचयू विवाद में विश्वविद्यालय की छात्राओं ने कमान अपने हाथों में लेकर सॉलिडेरिटी मार्च निकाला था। बात किसी राष्ट्रीय मसले की हो या अंतर्राष्ट्रीय संकट की हो, अमुवि छात्रसंघ समय–समय पर अपना विरोध दर्ज करने से नहीं चूका है।

देश के अन्य छात्रसंघों से अमुवि छात्रसंघ इस तरह भी अलग है क्योंकि यहाँ दो छात्रसंघ हैं – एक मुख्य कैंपस का छात्रसंघ और दूसरा विमेंस कॉलेज का महिला छात्रसंघ। 22 सितंबर, 2016 में सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के अनुसार विश्वविद्यालय के मुख्य कैंपस और विमेंस कॉलेज की भौगोलिक दूरी को मद्देनज़र रखते हुए महिला छात्रसंघ को अमुवि छात्रसंघ से विलग किया गया। दोनों छात्रसंघों का कार्यभार अपने–अपने मतदाताओं की समस्याओं को संबोधित करते हुए समस्त विश्वविद्यालय के छात्रों के कल्याण को सुनिश्चित करने की भावना से होकर आपसी मतभेदों व अंतर्विरोधों से अक्सर दो–चार होता रहता है। ऐसा करना छात्र–छात्राओं के कितने हित में रहा या कितनी कागज़ी बातें साकार हो पाई इस पर भी बात होनी चाहिए।

छात्र राजनीति के औचित्य पर समय–समय पर सवाल खड़े होते रहे हैं। इसके बंद करने के पक्ष में यह दलील दी जाती है कि विश्वविद्यालय तो पढ़ने के लिए होते हैं वहाँ छात्र राजनीति कर बेवजह वक़्त ख़राब क्यों करें? इसके साथ ही एक सवाल यह भी उठना चाहिए कि छात्र अगर अपने नागरिक होने की भूमिका को नहीं समझता और राजनीतिक पेचीदगियों से दूरी बनाए रखता है तो क्या ऐसे में लोकतंत्र का सफल होना संभव है? भारत एक ऐसा लोकतंत्र है जहाँ युवाओं की संख्या सबसे ज़्यादा है। यदि उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाला एक विद्यार्थी यह तय नहीं कर सकता कि उसका सही प्रतिनिधि कौन होगा तो उससे यह उम्मीद कैसे की जाए कि वह एक अच्छा नागरिक बन पाने में सक्षम होगा और समाज में न्याय, समता और आधुनिक मूल्यों के पक्ष में खड़ा हो पायेगा। यदि आप अ–राजनीतिक होंगे तो आपका अ–राजनीतिक होना समाज के अन्यायपूर्ण होने की तरफ़ एक क़दम होगा।

(लेखिका अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग में परास्नातक की छात्रा हैं।)

हामिला (कहानी)

उज़्मा सरवत



बात पिछली सदी की है। सावन की उस सुबह पूरी दालमंडी में एक बेहद भावपूर्ण आवाज़ गूँज रही थी – "बाबुल मोरा नइहर छूटो ही जाये..."। सुबह और खुशनुमा जान पड़ता थी। हालांकि तवायफ़ों का कोई नइहर नहीं होता मगर असिया बाई को जब कभी लखनऊ की याद सताती तो वो अख़्तर पिया की इस ठुमरी में उसे तलाशती थी। उस समय के ठुमरी फनकार अपने उपनामों में पिया लगाते थे और उस परंपरा में चौलक्खी वाले वज़ीर मिर्ज़ा फ़र्रूख़ाबादी 'कदर पिया' से लेकर महाराज बिंदादीन, सनद पिया तक सभी नामवर हुए हैं। सितार और ठुमरी की जुगलबंदी और सितार के साथ ठुमरी को गाने की रीत भी लखनऊ की है। असिया बाई को लखनऊ से बनारस आये अब तीन साल होने को थे मगर फिर भी कहीं लखनऊ का ज़िक्र छिड़ता तो उसके दिल में एक हल्का–सा दर्द ज़रूर उठता था। ये मीठा दर्द अक्सर उसकी आँखें नम कर देता। वहाँ इन फिरंगियों और नवाबज़ादों की अना की लड़ाई में उसे न घसीटा गया होता और उसकी जान पर न बनी होती तो वो लखनऊ छोड़कर आने की कल्पना भी न करती कभी। यहाँ आकर उसने अपना नाम भी 'बानो' से 'बाई' कर लिया था। बनारस ने भी अब उसे अपना लिया था। दालमंडी में उसके कोठे पर शहर के तमाम रईसज़ादों का मजमा लगता था हर शाम। कुछएक की तो बीवियों से भी अच्छी दोस्ती थी उसकी। पूरे शहर में उसके जैसे गौनिहारिन नहीं थी कोई।

बहरहाल, गाते–गाते जब उसे प्यास लगी तो उसने कजरी को आवाज़ लगायी। "अरी कजरी! ओ

कजरी! ज़रा पीने का पानी ले आओ।" कजरी ही उसकी एकमात्र राज़दार थी यहाँ। ख़ाली वक़्त में अक्सर बैठकर वो उससे अपना दिल का हाल कहती थी। मजाल है जो कजरी ने कभी उसकी कोई बात इधर से उधर की हो। कजरी पानी से भरा चाँदी का एक लंबा कामदार गिलास लिए फ़ौरन दाख़िल हुई असिया बाई के खिलवत में।

"आज उदास हो दीदी", असिया की शक़्ल पर पसरी मायूसी को वह फ़ौरन भाँप गयी।

"हाँ, आज फिर याद आ रही है कजरी अपने शहर की। क्या करूँ?"

"तबियत भी ठीक नहीं दिखती, कहीं ज्वर तो नाही हो गया", इतना कहते उसने उसके माथे की तरफ़ हाथ बढ़ाया।

"नहीं मैं ठीक हूँ कजरी फ़िक्र न करो, तुम तो जानती हो हामिला होना इतना आसान नहीं, पूरे दिन बैठी रहती हूँ न इसलिए भी हज़ार तरह के ख़याल आते हैं और कुछ भी अच्छा नहीं लगता आजकल तो मुझे"

"ई तो ठीक कहीं आप, लेकिन हम आपका पूरा ख़याल रखेंगे न, काहे परेशान होती हैं आप, हमें बुला लिया कीजिए जब भी जी भारी हुआ करे आपका, ई कजरी अपनी बातों से खुस न कर दे तो फिर कहियेगा", कजरी ने असिया को ज़रा मुस्कुराने पर मजबूर कर ही दिया अपने निराले झूम–झूमकर बोलने के अंदाज़ से आख़िर।

"हाँ तुम्हारे सहारे ही कटेंगे ये दिन भी"

"जी हम तो हैं ही", इतना कहकर कजरी बैठ ही गयी पलंग के नीचे से मचिया खींचकर।

"सुनो कजरी तुमसे एक बात कहनी थी", असिया की आवाज़ में ज़रा भारीपन आ गया।

"बोलिये दीदी"

"अगर मेरे यहाँ लड़की पैदा हुई तो तुम मेरा एक काम करना, उसे सेठ पन्नादास की हवेली के सामने रख आना"

"आये हाय दीदी, ऐसा क्यों कहती हो? तुम न पालोगी अपनी बेटी?", कजरी फ़ौरन चौंक कर खड़ी हो गयी।

असिया को पहले ही अंदाज़ा था कि कजरी बिलकुल ही चौंककर परेशान हो जायेगी। उसने ज़रा गहरी साँस ली और अपनी आँखों के कोनों से आँसू पोंछते हुए खिड़की की तरफ़ मुँह फेर लिया और बोली, "ज़रूर पालती कजरी, लेकिन मैं नहीं चाहती कि उसका मुस्तक़बिल भी मेरी ही तरह अंधेरों से भरा हो, मैं चाहती हूँ वो आम औरतों की तरह ज़िन्दगी गुज़ारे, इस दलदल से दूर, बहुत दूर", आँखें छलक आयीं उसकी इतना कहते–कहते। आख़िर कई रातें सर्फ़ की थीं उसने इस नतीजे पर पहुँचने के लिए। किस क़दर उसने जी कड़ा करके ये फ़ैसला लिया था, ये सिर्फ़ वही जान सकती थी। कजरी काफ़ी देर तक अचरज और हैरत में चुप थोड़ी देर असिया बाई को देखती रही मानो कुछ गहरा ढूँढ रही हो उसकी आँखों में। आँखें हटाईं तो फ़फ़क कर रो पड़ी। कहने लगी,"ममता में ऐसा त्याग हमने नाही देखा था दीदी कभी।"

ख़ैर, किसी सूरत बच्ची को सेठ पन्नादास की हवेली के सामने छोड़ने पर राज़ी हो गयी और शर्त ये भी थी कि किसी को ये न पता चले की आख़िर बच्ची है किसकी।

इस तरह उसने अपनी बच्ची को जीवन की तारीकियों से बचा लेने के सब जुगत कर लिए। मन ही मन सेठाईन मीना के चेहरे की ख़ुशी की कल्पना भी कर ली जिससे पिछली मुलाक़ात में संतानहीनता का दुःख वो भाँप गयी थी। और यह सोचते हुए उसे आज उसने अपना दिल हल्का महसूस किया और अपनी नम आँखें मूँद लीं।

ठीक पाँच माह बाद एक बेहद कोमल, मासूम और ख़ूबसूरत–सी बच्ची को अपनी हवेली के चौखट पर देख सेठ पन्नादास बड़े अचरज में पड़े खड़े थे। अभी दुविधा ही में थे कि इतने में अंदर से सेठाईन ख़बर पाकर दौड़ी चली आयीं। झट बच्ची को गोद में उठाया और कहा – "सोचते क्या हो सेठजी, भोलेनाथ ने तोहफ़ा भेजा है। जाओ भोग की तैयारियाँ करो।"

और फिर शाम में हवेली में भोग लगा। जश्न मनाया गया। नामकरण हुआ। और बीस बरस बाद इसी द्वार से अपराजिता की डोली उठी। कजरी इस दौरान बढ़ती अपराजिता की लगभग हर छोटी–बड़ी बात की ख़बर रखती रही। उसने कब पहली दफ़ा माँ कहा, कब चलना शुरू किया, कितनी दफ़ा दौड़ते हुए गिर पड़ी और किस तरह अपनी असल पहचान से अनजान वो समाज के दूसरे पाले का हिस्सा होती चली गयी। तवायफ़ों को कमतर और खुद को बेहतर समझने लगी। लगभग सब। और यूँ ही किसी शाम अपने खिलवत में बैठी असिया बाई से कजरी रोती हुई कहने लगी, "तोहरी बेटी तोहरे जैसों से नफ़रत करती है दीदी। ई का कर दी हैं आप?"

"कामयाबी की ख़बर कहीं रोकर देते हैं पगली, तुम बहुत भोली हो कजरी", मुस्कुराते हुए इतना कहकर असिया बाई फिर धीमी आवाज़ में गुनगुनाने लगी।

"अब न बजाओ श्याम बाँसुरिया..."

कविताएं

मैं चौकीदार हूं

नज्मु सहर

मैं चौकीदार हूं,
मुझे धूप नहीं लगती
मैं मौसमों का अंतर भी
नहीं जान पाया हूं अब–तक।
मैं तो वह बिंदु भी नहीं खोज सका हूं
जो बताता है रात का आरंभ होना
या दिन का ख़त्म हो जाना।
मैं चौकीदार हूं,
मेरी थकान ही भर देती है मेरा पेट।
अगर नहीं भर सका तो
गालियों को बना लेता हूं नींद की गोलियां।
मेरे लिए कपड़ों में कलर नहीं
पहचान होती है।
मेरे एक हाथ की लाठी
और दूसरे हाथ का सलाम
मेरी उम्र से भी लंबा है।
मैं चौकीदार हूं,
मैं सपने नहीं देखता रात को
तारे गिनता हूं।
अपने बच्चों को भी
सपनों की जगह तारे दे देता हूं तोड़ कर
उसी लाठी से जो मेरी उम्र से भी लंबी है।
मैं चौकीदार हूं...



कौन कर रहा है अपना काम?

तल्हा मन्नान

काम,
कौन कर रहा है अपना काम?

सरकारें?

लेकिन वे तो आम जन के शोषण में व्यस्त हैं,
उद्योगपतियों व धनाढ्यों के तलवे चाट रही हैं,
धर्म, सम्प्रदाय, जाति की राजनीति कर रही हैं,

प्रशासन?

लेकिन वह तो भू–माफियाओं से वसूली कर रहा है,
शिक्षा के सौदागरों से कमीशनख़ोरी में लगा पड़ा है,
व्यापारियों और पूँजीपतियों से सांठ–गांठ में व्यस्त है,

पुलिस?

उसे तो प्रतीक्षा है सरकारी आदेश पर लाठियां बरसाने की,
वह मौक़े ढूंढती है निर्दोषों को झूठे आरोपों में फंसाने के,
और फर्ज़ी मुठभेड़ों में सैकड़ों घरों के चिराग बुझा देने के,

न्यायालय?

श्श्श! सरकारी दबाव के बोझ तले दबकर वह टेक चुका है घुटने,
न्याय की देवी ने मौन साधकर बांध रखी है आंखों पर काली पट्टी,
न्याय के रखवाले दर्ज करा रहे हैं शाही दरबारों में अपनी उपस्थिति,

मीडिया?

कभी हुआ करता था वह लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ,
आज व्यस्त हो गया है सरकारों की चाटुकारिता में,
भूल कर अपने कर्तव्य, बेच रहा है नफ़रतें, सरेआम,
कुलपतियों के मुंह में दी जा चुकी है स्वायत्तता की **हड्डी**
ख़रीदे जा चुके हैं सभी अख़बार और टीवी चैनल
घोषित हो चुका है एक अघोषित आपातकाल
एक ऐसे भयानक दौर में, जब
कोई नहीं कर रहा अपना काम
विद्यार्थियों के नाम है ये संदेश
या फ़िर है एक दरबारी फ़रमान

कि

वे करें अपना काम
न उतरें सड़कों पर
न करें कोई विरोध
न लगाएं कोई नारे
न करें कोई सवाल

क्योंकि

उनका काम है सिर्फ़ पढ़ाई
ताकि वे कर सकें
सचिवालयों में क्लर्की
दरबारों में जी हुज़ूरी
प्रशासन में सौदेबाज़ी
मीडिया में चाटुकारिता
न्यायालय में नाइंसाफी

और

नेता बन जाने पर समर्थन!
स्वागत है आपका ऐसी महान व्यवस्था में।

रिपोर्ट : एएमयू छात्रसंघ और छात्र विमर्श द्वारा संयुक्त रूप से हिन्दी लेखन कार्यशाला का आयोजन

मुहम्मद अफ़ग़ान अली, मज़हर-उल-इस्लाम

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय छात्रसंघ और छात्र विमर्श पत्रिका द्वारा संयुक्त रूप से मौलाना आज़ाद पुस्तकालय के कल्चरल हॉल में एक "हिंदी लेखन कार्यशाला" का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला का मुख्य उद्देश्य छात्रों के अन्दर लेखन कौशल का विकास करना था।

कार्यशाला को हिन्दी जगत के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े दिग्गजों ने संबोधित किया। कार्यक्रम का शुभारंभ पवित्र कुरआन के प्रवचन के साथ हुआ। इसके बाद अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर शाह–उल–हमीद ने नई हिंदी गद्य विधाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने वैश्वीकरण के बाद से ही हिन्दी भाषा पर अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव पर भी चिंता जताई।

इसके उपरांत लम्बे समय से पत्रकारिता में सक्रिय और 'द सिटीज़न' में कार्यरत पत्रकार असद अशरफ़ ने रिपोर्टिंग के विभिन्न प्रकारों और ब्लॉगिंग से छात्रों को अवगत कराया। इस कार्यशाला में मराठी पत्रिका 'संवाद' के पूर्व संपादक एवं एस. आई. ओ. के राष्ट्रीय सचिव सलमान अहमद ने छात्रों को सम्बोधित करते हुए पत्रकारिता के गिरते स्तर पर चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि, "पत्रकारिता और लेखन वर्तमान समय में सरकार के ख़िलाफ़ विपक्ष की भूमिका में हैं। हमें अपने लेखन कौशल को ईश्वरीय वरदान समझ कर सही जगह और सच्चाई के साथ उपयोग करना चाहिए।" उर्दू मासिक पत्रिका 'रफ़ीक –ए–मंज़िल' के संपादक सऊद फ़िरोज़ ने प्रतिभागियों को, संपादकीय पत्र, फ़िल्म समीक्षा, पुस्तक समीक्षा आदि लिखने के कौशल से अवगत कराया।



कार्यक्रम का अंत, छात्र विमर्श के मुख्य संपादक एवं एनसीईआरटी में बतौर संपादक कार्यरत तय्यब अहमद के समापन भाषण के साथ हुआ। छात्र विमर्श का परिचय देते हुए उन्होंने कहा कि, "छात्र विमर्श भारत की एकमात्र पत्रिका है जो पूरी तरह छात्रों को समर्पित है। इसका संपादन भी छात्र करते हैं। छात्र विमर्श नवीन प्रतिभावान युवा लेखकों को मंच प्रदान करता है जिससे वे अपने लेखन कौशल को दुनिया के सामने रख सकें और उसका विकास कर सकें।"

इस कार्यशाला का संचालन छात्र विमर्श के उप–संपादक तल्हा मन्नान ने किया। विदित हो कि इस कार्यशाला का संयोजन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय छात्रसंघ के कैबिनेट सदस्य गौतम के. ने किया था, जो दक्षिण भारत से आते हैं। इस अवसर पर अमुवि छात्रसंघ कैबिनेट सदस्य फहद ज़िन्जानी, फ़िरदौस अहमद, पूर्व अमुवि छात्रसंघ कैबिनेट सदस्य मतीन अशरफ़, एसआईओ एएमयू के सभी ज़िम्मेदारों के साथ–साथ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या भी मौजूद रही।